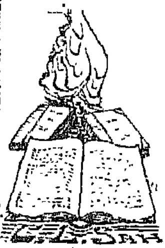

L.L. SAH

ख़ुदाराम

और

चन्द हसीनों के ख़ुतूत

नये-नये उपन्यास

उग्र लिखित

*******छप गया*******

'कढ़ी में कोयला'

(कलकत्ता-रहस्य)

*******छप रहे हैं*******

महन्त मूज़ीराम महाराज

जुहू

जादू की छड़ी

उग्र-प्रकाशन, दिल्ली और
गऊघाट, मिर्ज़ापुर [उ प्र०]

ख़ुदाराम और
चन्द हसीनों के ख़ुतूत

उपन्यासकार

पाण्डेय बेचन शर्मा, 'उग्र'

उ ग्र प्र का श न

दिल्ली, गऊघाट, मिर्ज़ापुर (उ० प्र०

प्रकाशक
पाण्डेय बेचन शर्मा, 'उग्र'
गऊघाट, मिर्जापुर (उ० प्र०)

अष्टम् संस्करण
मूल्य ढाई रुपया
२॥)

मुद्रक
रसिक प्रिंटर्ज़
करौल बाग, नयी दिल्ली

प्रकाशकीय

अगर बनारसीदास चतुर्वेदीने साहित्यिक-युद्धकी नीतिको बालाएताक़ रख, मेरी मशहूर पुस्तक 'चाकलेट'पर महात्मा गांधी की राय २५ बरसों तक छिपा न रखी होती, तो मेरी एक भी पुस्तक किसी दूसरे प्रकाशकके हाथ न लगी होती। मेरा दावा यह कि हिन्दीमें मेरा 'केस' विशेष है। मैं सरकारसे पैसा नहीं पाता, न चाहता हूँ; मैं रेडियोपर आज तक कभी बोला नहीं, न चाहता हूँ; दान न तो मैं वैश्य से चाहता हूँ और न वैश्या से; जोड़-बाक़ीसे अपरिचित होनेसे—इतनी शोहरत होनेपर भी—रायलटीसे मेरी आमदनी नहींके बराबर है। रायलटी केवल शोहरतसे नहीं मिलती, न गुणसे;—ख़ुशामद और पैरवीभी ज़रूरी हैं। ये पंक्तियां लिखते समय मेरी अवस्था ५४ साल ४ महीने और ४ दिन है। मैं तो ढीठ या निर्लज्ज या क्रूर या 'उग्र' होनेसे अभी तगड़ा हूँ; नहीं तो, मेरी अवस्थावाले अनेक मित्र न जाने कभी निज-निज कर्मानुसार नरक या स्वर्गकी राह लग गये! लेकिन मैं आपहीसे पूछूं कि इस अर्थ-युगमें, ऐसी आर्थिक-दुर्वस्थामें मेरे-जैसा कटु-कषाय 'उग्र' यदि कुछ दिनोंके लिये—ख़ुदा न करे!—बीमार पड़ जाय या क़लम घिसकर चना-चबेना जुटानेमें असमर्थ हो जाय, तो क्या होगा? मेरे स्त्री नहीं, पुत्र नहीं, गुरुडम विरोधी होनेसे शिष्य नहीं, मित्र नहीं, रायल्टी

नहीं, घर नहीं, जमीन नहीं। और सारी जिन्दगी में उग्र रहा—अकड़ कर चलनेवाला पहाड़ी—मिर्जापुरी।

अस्तु, अब सिवा इसके कि मैं अपनी सारी पुस्तकें स्वयं छाप लूं और बिक्री का प्रबन्ध करूं मेरे लिये दूसरा कोई चारा नहीं। कापीराइट क़ानूनमें जल्दही लेखकों के पक्ष में सुधार-संशोधनभी होने के लक्षण स्पष्ट हैं; पर, तबतक प्रतीक्षा करने जितनी पूंजी मेरे पास नहीं। सत्यतः सारी ज़िन्दगीकी कमाई आजसे ३० वर्ष पहले ही कर लेने के बावजूद अन्तिम कालमें लाल पैसे भी मुहाल देख मुझे अपनी रचनाओंके छापनेका सहज निश्चय करना पड़ा। क्योंकि, समाजवादी व्यवस्थाके सूर्योदयमें जैसे खेत उसका जो जोते, घर उसका जो रहे, कारखाने उनके जो परिश्रम करें, वैसेही, पुस्तकेंभी उसीकी जो उनका लेखक है। समय आने पर, इस मसले पर, मैं समाज संरक्षकों और सरकारकी राय या व्यवस्था सहर्ष जानना चाहूंगा।

'चन्द हसीनों के खुतूत' सन् १९२७ ई० में कलकत्ते के 'मतवाला' में जैसा कुछ प्रकाशित हुआ था अथवा उसके प्रारंभिक संस्करणों का जो पाठ था, वह पाठ दूसरे प्रकाशक के यहाँ से छपने पर न रह सका। तपते हुये अँग्रेजों के भय से उनके शासन के विरुद्ध किये गये अनेक उग्र-इशारे नहीं छापे गये। अब पुस्तक के इस ८ वें संस्करण में दो-चार शब्द मैंने स्वयं बदल दिये या हल्के कर दिये हैं, जिनका सम्बन्ध हमारे मुसलिम भाइयो से था। याद रहे, यह उपन्यास सन् १९२७ में

लिखा गया था, याने पाकिस्तान के जन्म से बीसों बरस पहले। तब और आज की उपस्थित समस्याओं में ज़मीन आसमान का अन्तर हो सकता है।

'चन्द हसीनों के ख़ुतूत' विश्व के उपन्यास-साहित्य में हर्गिज़ नाम लेने क़ाबिल नहीं, मगर, हिन्दी में इसने मुझे बहुत यश दिया। आदमी बिलकुल घोंघावसन्त न हो तो, निश्चय ही यश या पब्लिसिटी पैसे बन कर रहती है। 'चन्द हसीनों के ख़ुतूत' से जो मुझे शोहरत मिली उससे मैं मालामाल हो गया और अब, भले ही मेरी जेब में एक टका न हो, पर धन मेरे चारोंओर गुजराती गरबा नाचता रहता है। फिर भी, हिन्दू-मुसलिम सम्बन्ध-सुधार पर आज मुझे लिखना हो, तो कुछभी न क्यों लिखूं पर 'चन्द हसीनों के ख़ुतूत' तो हर्गिज़ नहीं लिखूँगा। मेरी बुद्धि बदल गयी; सो बात नहीं—काल बदल गया, वक़्त बदल गया।

पुस्तकों का कम दाम रखने की ज़रूरत महसूस करते हुये भी मैं बाज़ार-भावके अनुसार दाम रखनेके लिये लज्जित-लाचार हूं। बेचने का अपना साधन न हो तो, सस्ती पुस्तकें छापनेवाला—अधिक कमीशन देनेमें असमर्थ—मरही जायगा। एक बात और भी विचित्र है। पुस्तक मौलिक हो या अनुवाद, लेखक कालिदास हों या कवि कल्लू—टकेसेर भाजी टकेसेर खाजा—सभीकी पुस्तकोंका मूल्य चार आने फ़र्मेकी दरसे निर्धारित! जिस समय 'उग्र'ने प्रकाशक बनने का दृढ़ निश्चय किया उस

समय हिन्दी प्रकाशन-जगतमें स्वराज्यके बादकी अराजकता बहुरंग विराज रही थी।

इस संग्रहकी कहानी 'खुदाराम' आजसे ३१ वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी और लघु उपन्यास 'चन्द हसीनोंके खुतूत'ने २८ वर्ष पहले हिन्दी-साहित्यमें कोलाहल पैदा किया था। 'खुदाराम और चन्द हसीनोंके खुतूत'के साथही उग्र-प्रकाशनकी तीसरी पुस्तक 'कढ़ीमें कोयला'भी प्रकाशित हुई है। इस उपन्यास में कलकत्ते के भयंकर रहस्योंभरे जीवनपर सरस, मगर तीव्र, प्रकाश डाला गया है। 'कढ़ीमें कोयला' 'उग्र' लिखित ताजातम उपन्यास है।

जय माया की!

'उग्र'-प्रकाशन,
सदर बाज़ार, दिल्ली।
१–६–५५

पाण्डेय बेचन शर्मा, 'उग्र'

खुदाराम

हमारे क़स्बेके इनायत अली कलतक नौमुसलिम थे। उनका परिवार केवल सात वर्षों से खुदाके आगे घुटने टेक रहा था। इसके पहले उनके सिरपर भी चोटी थी, माथेपर तिलक था और घरमें ठाकुरजी थे। हमारे समाजने उनके निरपराध परिवार को जबरदस्ती मन्दिरसे ढकेलकर मसजिदमें भेज दिया था।

बात यों थी। इनायत अलीके बाप उल्फ़त अली जब हिन्दू थे, देवनन्दन प्रसाद थे, तब उनसे अनजानेमें एक अपराध बन पड़ा था। एक दिन एक दुखिया ग़रीब युवतीने उनके घर आकर आश्रय माँगा। पता-ठिकाना पूछनेपर उसने एक गाँवका नाम ले लिया। कहा—

"मैं बिलकुल अनाथ हूं। मेरे मालिकको गुजरे छः महीनेसे ऊपर हो गये। जबतक वह थे, मुझे कोई फ़िक्र न थी। जमीन्दार की नौकरी से चार पैसे पैदा करके, वही हमारी दुनिया चलाते थे। उनके वक़्त ग़रीब होने पर भी मैं किसी की चाकरी नहीं

करती थी। अब उनके बाद, उसी गांवमें, पेट के लिये परदा छोड़ते मुझे शर्म मालूम होने लगी। इसीलिये उस गांवको छोड़ इस शहरमें नौकरी तलाश रही हूँ। मुझे और कुछ नहीं, चार रोटियां और चार गज्ज कपड़ेकीज़रूरत है। आपको भगवानने चार पैसे दिये हैं। मेरी हालत पर रहम कीजिये। मुझे अपने घरके एक कोनेमें रहने और बाक़ी जिन्दगी ईश्वरका नाम लेनेमें बिताने दीजिये। आपका भला होगा।"

जात पूछनेपर उसने अपनेको अहीरन बताया। देवनन्दन प्रसादजी सरल हृदयके थे। स्त्रीकी हालत-पर दया आ गयी। उनकी स्त्रीने भी अहीरनकी मदद ही की। कहा—

"रख लो न। चौका बर्तन किया करेगी, पानी भरेगी, दो रोटी खायगी और पड़ी रहेगी।"

अहीरन रख ली गयी। दो महीनों तक वह घरका काम-काज संभालती रही। इसके बाद एक दिन एकाएक वज्रपात हुआ। न जाने कहाँसे ढूँढ़ता-ढाँढ़ता एक आदमी देवनन्दनजी के यहां आया पूछने लगा—

"बाबूजी, आपने कोई नयी मजदूरन रखी है?"

"क्यों भाई? तुम्हारे इस सवालका क्या मतलब है?"

"बाबूजी, दो महीनोंसे मेरी औरत ला-पता है। मैं उसी की तलाशमें चारों ओरकी खाक छान रहा हूँ। जरासी बातपर लड़कर भाग खड़ी हुई। औरतकी जात, अपने हठके आगे मर्दकी

इज़्ज़तको कुछ समझती ही नहीं।"

इसी समय हाथमें घड़ा और रस्सी लिये वह अहीरन घरसे बाहर निकली। उसे देखते ही वह पुरुष झपट कर उसके पास पहुँचा।

"अरे, फ़िरोज़ी! यह क्या? किसके लिये पानी भरने जा रही है।"

"इधर आओ जी!" ज़रा कड़े होकर देवनन्दनजी ने कहा—"यह कैसा पागलपन है? तुम किसे फ़िरोज़ी कह रहे हो? वह हमारी मज़दूरिन है। हमारे लिये पानी लेने जा रही है। उसका नाम फ़िरोज़ी नहीं रुकमिनियाँ है। किसी ग़ैर औरत का इस तरह अपमान करते तुम्हें शर्म नहीं आती?"

जोशमें देवनन्दनजी इतना कह तो गये, मगर, रुकमिनियाँ के चेहरे पर नज़र पड़ते ही उनके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। उस पुरुष को देखते ही अहीरन रुकमिनियाँ का मुँह काला पड़ गया। वह काठमारी-सी जहाँ की-तहाँ खड़ी रह गयी।

रुकमनियाँको फ़िरोज़ी कहनेवालेने देवनन्दनकी ओर देख कर कहा—

"बाबूजी, आपने धोका खाया। यह हिन्दू नहीं, मुसलमान है। रुकमिनियाँ नहीं, मेरी भागी हुई बीबी फ़िरोज़ी है।"

देवनन्दनके काटो तो ख़ून नहीं!

२

शामको, घरके सरदारोंके घूमने-फिरने, मिलने-जुलनेके लिये निकल जानेके बाद मुहल्लेकी बूढ़ी औरतें और जवान लड़कियाँ अपने-अपने दरवाज़ों पर बैठकर ज़ोर-ज़ोरसे देवनन्दन और फ़िरोज़ीकी चर्चा करने लगीं।

"बाबारे बाबा !" एक बूढ़ीने राग आलापा—"औरतका ऐसा दीदा ! मर्दको छोड़कर दूसरे देश और दूसरेके घर पर चली आयी !"

"मू-झौंसी थी तो तुर्किन, बन गयी अहीरिन। मुसलमान औरतोंमें लाज नहीं होती, मां। वह तो इस तरह अपने मालिकको छोड़कर दूसरों के यहाँ चली आयी; मुझे तो घर के भी बाहर जाने में डर मालूम होता है। निगोड़ी औरत क्या थी, पतुरिया थी।" एक विवाहित लड़कीने कहा।

सामने के दरवाज़े परसे दूसरी अधेड़ औरतने कहा—

"अब देखो रघुनन्दनके बाप का क्या होता है। दो महीनों तक तुर्किनके हाथ का पानी पीकर और उससे चौका-बर्तन करा

कर उन्होंने अपना धरम खो दिया है। हमारे...तो कह रहे थे कि अब उनके घरसे कोई नाता न रखा जायगा।"

"नाता कैसे रखा जा सकता है?" पहली बूढ़ीने कहा "धरम तो कच्चा सूत होता है। ज़रा-सा इधर-उधर होते ही टूट जाता है। फिर हमारा हिन्दूका धरम। राम, राम! जिसको छूना मना है, सुबह जिसका मुंह देखना पाप है, उसके हाथसे देवनन्दनने जल ग्रहण किया। डूब गया—देवनन्दन का खान्दान डूब गया। अब उनसे पान-पानीका नाता रख कौन अपना लोक-परलोक बिगाड़ेगा?"

विवाहिता लड़की बोली—

"यह बात शहर भरमें फैल गयी होगी। दो-चार आदमी जानते होते तो छिपाते भी। सुबह उस तुर्किन का आदमी चोटी पकड़कर धौं-धौं पीटता हुआ उसे ले जा रहा था। सबने देखा, सब जान गये।"

बस। दूसरे दिन मुहल्लेके मुखियाने देवनन्दनको बुलाकर कहा—

"देखो भाई, अब तुम अपने लिये किसी दूसरे कुएंसे पानी मंगाया करो।"

"क्यों?"

"तुम अब हिन्दू नहीं, मुसलमान हो। दो महीने तक मुसल-मानिनसे पानी भराने और चौका-बर्तन करानेके बाद भी

तुम्हारा हिन्दू रहना असम्भव है।"

"मैंने कुछ जान बूझ कर तो मुसलमानिनके हाथका पानी पिया नहीं। उसने मुझे धोका दिया। इसमें मेरा क्या अपराध हो सकता है?"

"भैया मेरे, हम हिन्दू हैं। कोई जान-बूझ कर गो-हत्या करने के लिये गायके गलेमें रस्सी नहीं बाँधता। फिर भी, बंधी हुई गायके मरनेपर बाँधने वालेको हत्या लगती है। प्रायश्चित्त करना पड़ता है।"

"यह ठीक है। उसके जानेके बाद ही मैंने तमाम मकान साफ़ कराया—लिपाया-पोताया है। मिट्टीके बर्तन बदलवा दिये हैं। धातुके बर्तनोंको आगसे शुद्ध कर लिया है। इसपर भी और जो कुछ प्रायश्चित्त कराना हो करा लो। मैं कहीं भागा तो जा नहीं रहा हूँ।"

प्रायश्चित्तकी चर्चा चलनेपर व्यवस्थाके लिये पुरोहित और पण्डितोंकी पुकार हुई। बस, ब्राह्मणोंने चारों वेद, छःहो शास्त्र, छत्तीसो स्मृति और अठारहो पुराणका मत लेकर यह व्यवस्था दी कि "अब देवनन्दन पूरे म्लेच्छ हो गये। यह किसी तरह भी हिन्दू नहीं हो सकते।"

उधर देवनन्दनकी दुर्दशाका हाल सुनकर मुलसमानों ने बड़ी प्रसन्नतासे अपनी छाती खोल दी। क़स्बेके सभी प्रतिष्ठित और अ-प्रतिष्ठित मुसलमानोंने देवनन्दनको अपनी ओर बड़े

प्रेम, बड़े आदरसे खींचा।

"चले आओ! हम जात-पात नहीं, केवल हक़को मानते हैं। इसलाममें मुहब्बत भरी हुई है। खुदा ग़रीबपरवर है। हिन्दुओंकी ठोकर खानेसे अच्छा है कि हमारी पलकों पर बैठो—मुसलमान हो जाओ!"

लाचार, समाजसे अपमानित, परित्यक्त, पतित देवनन्दन सपरिवार अल्लामियांकी शरणमें चले गये। वह और करते ही क्या? मनुष्य स्वभावसे ही समाज चाहता है, सहानुभूति चाहता है, प्रेम चाहता है। हिन्दू समाजने इन सब दरवाजोंको देवनन्दनके लिये बन्द कर दिया। इतना हो जानेपर उनके लिये मुसलमान होनेके सिवा दूसरा कोई पथ ही नहीं था। देवनन्दन, उल्फ़त अली बन गये और उनका पुत्र रघुनन्दन—इनायत अली।

देवनन्दनकी छातीपर समाजने ऐसा क्रूर धक्का मारा कि धर्मपरिवर्तनके नौ महीने बाद ही वे इस दुनियासे कूच कर गये!

३

जिन दिनोंकी घटना ऊपर लिखी गयी है उन्हें भूतके गर्भमें गये सात वर्ष हो गये। तबसे हमारे क़स्बेकी हालत अब बहुत कुछ बदल-सी गयी है। पहले हमारे यहाँ सामाजिक या राजनीतिक जीवन बिलकुल नहीं था। सभी पेटके धन्धेकी धुनमें व्यस्त थे। उन दिनों हमारी दस हजारकी बस्तीमें, क्लब या सोसाइटीके नाते तहसीलका अहाता मात्र था, जहाँ नित्य सायंकाल नगरके दस-पांच चापलूस धनी तहसीलदारसे हें-हें करनेके लिये या टेनिस खेलनेके लिये एकत्र हुआ करते थे। आर्य समाजका बदनाम नाम तो घर-घर था, मगर, सच्चा आर्य-समाजी एक भी न था। एक सज्जन आगरेके 'आर्यमित्र' के ग्राहक थे। वही स्वामी दयानन्दका नाम ले-लेकर कभी-कभी नवयुवकोंके विनोदके साधन बना करते थे। वह बनते तो थे आर्य-समाजी मगर बिलकुल मौखिक। हमें ठीक याद है, वह पुराने समाजकी सभी प्रथा या कुप्रथाओंको मानते थे। एक बार उनकी स्त्रीने उनसे

सत्यनारायणकी कथा सुननेका आग्रह किया और उन्होंने अस्वीकार कर दिया। बस, इसी बातपर आर्य-समाजी पतिके मुखपर सनातनी चण्डी झाड़ू फेरने, कालिख लगाने और चूना करने को तैयार हो गयी! तीन दिनोंतक मुहल्ले वालोंको नींद हराम हो गयी। विवश होकर 'महाशयजी' को स्त्रीके आगे झुकना पड़ा।

मगर, अब क़स्बेका वातावरण बिलकुल परिवर्तितहो गया है। गत असहयोग आन्दोलनके प्रसादसे हमारा क़स्बा भी बहुत कुछ जीवित हो उठा है। अब हमारे यहाँ बाक़ायदा आर्य-समाज भवन है, और हैं उसके मन्त्री, सभापति। एक पुस्तकालय भी है और उसके भी मन्त्री सभापति हैं। हिन्दीके अनेक पत्र और अंग्रेजीके दो-तीन दैनिक आते हैं। सैकड़ों बालक, युवक और वृद्ध अखबार-जीवी बन गये हैं। ऐसे अखबार-जीवियोंकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है।

उस दिन आर्य-समाजके मन्त्री पण्डित वासुदेव शर्मा समाज भवनमें बैठे कोई उर्दू अखबार पढ़ रहे थे। भवनके बाहर—बरामदेमें दो पञ्जाबी 'महाशय' पायजामा और कमीज पहने सायं-सन्ध्या कर रहे थे। उसी समय एक, दुबला पतला लंबा सा पुरुष भवनमें आया। उसकी आहट पा शर्माजीने चश्माच्छ आंखोंसे उसकी ओर देखा। पहचान गये—

"कहो मियां इनायत अली, आज इधर कैसे?"

"आपहीकी सेवामें कुछ निवेदन करने आया हूँ।"

शर्माजीने चश्मा उतार लिया। उसे कुरतेके कोनेसे साफ करनेके बाद पुनः नाक पर चढ़ाते-चढ़ाते बोले—

"भाई इनायत, बड़ी शुद्ध हिन्दी बोलते हो ?"

"जी हां शर्माजी, मैं बहुत शुद्ध हिन्दी बोल सकता हूं। इसका कारण यही है कि मेरी नसोंमें बहुत शुद्ध हिंदू रक्त बह रहा है। समाजने जबरदस्ती मेरे पिताको मुसलमान होनेके लिये विवश किया, नहीं तो, आज मैं भी उतना ही हिन्दू होता जितने आप या कोई भी दूसरा हिन्दुत्वका अभिमानी। खैर मुझे आपसे कुछ कहना है...।"

"कहिये, क्या आज्ञा है ?"

"मैं पुनः हिन्दू होना चाहता हूँ।"

"हिन्दू होना ??" आश्चर्यसे मुख विस्फारित कर शर्माजी ने पूछा।

"जी हाँ। अब मुसलमान रहनेमें लोक-परलोक दोनों का नाश दिखाई पड़ता है। इसलिये नहीं कि उस धर्ममें कोई विशेषता नहीं है, बल्कि इसलिये कि मेरा और मेरे परिवारका हृदय मुसलमान धर्मके योग्य नहीं। अनन्त कालका हिन्दू हृदय—हिन्दू सभ्यताका पक्षपाती शान्त हृदय—मुसलमानी रीति-नीत और सभ्यताका उपयोग करनेमें बिलकुल अयोग्य साबित हुआ है। मेरी स्त्री नित्य प्रातःकाल खुदा-खुदा नहीं, राम-राम जपती

है। मैं मुसलमान रहकर क्या करूंगा ? मेरी माता गंगा स्नान और बदरिकाश्रम यात्राके लिये तड़पा करती हैं। मेरा हृदय न तो उन्हें मक्का-मदीनाका भक्त बनानेकी धृष्टता कर सकता है और न वह बन ही सकती हैं। मैं मुसलमान रहकर क्या करूंगा ? मैं स्वयं मसजिदमें जाकर हृदयके मालिकको नहीं याद कर सकता। मेरा हिन्दू हृदय मसजिदके द्वारपर पहुँचते ही एक विचित्र स्पन्दन करने लगता है। उस स्पन्दनका अर्थ खुदा या मसजिद वाले के प्रति अनुराग नहीं हो सकता, घृणा भी नहीं हो सकती। वह स्पन्दन अनुराग और घृणाके मध्यका निवासी है। इन्हीं सब कारणोंसे, बहुत सोच समझकर अब मैंने 'शुद्ध' होकर हिन्दू होने का निश्चय किया है।"

पंजाबी महाशय भी सन्ध्या समाप्त कर ओ३म् ओ३म् करते हुए भीतर आ गये। शर्माजीने इनायत अली उर्फ रघुनन्दन का परिचय देते हुए उनके प्रस्तावपर उन दोनों महाशयोंकी सम्मति मांगी।

"धन्य हो महाशय जी!" एक महाशय बोले—"ऋषि दयानन्दकी किरपा होगी तो हमारे वे सब बिछड़े भाई एक-न-एक दिन फिर अपने आर्य धरममें चले आयेंगे। इन्हें जरूर शुद्ध किजिये।"

४

हिन्दू-मुसलिम वैमनस्यका बाजार गर्म होनेके एक महीना पूर्व एक विचित्र पुरुष हमारे क़स्बेमें आये। उनकी अवस्था पचास वर्षों से अधिक जान पड़ती थी। वह वस्त्रके नामपर केवल लंगोटी धारण किया करते। वही उनकी सारी गृहस्थी और सम्पत्ति थी। उनका मुख तो रोबीला नहीं था, पर, उसपर विचित्र आकर्षण दिखाई देता था। दाढ़ी फ़ुटभर लम्बी थी। सरके बाल भी बड़े बड़े थे।

उनमें एक ऐसा चमत्कार था जिससे क़स्बेके छोटे-छोटे लड़के उनपर जान दिया करते थे। हाँ, उनका नाम बताना तो भूल ही गया। वह अपनेको 'खुदाराम' कहा करते थे। खुदाराम गलीमें आये हैं; यह सुनते ही लड़कोंकी मण्डली जान छोड़ कर उनकी ओर झपट पड़ती—"खुदाराम पैसे दो! खुदाराम पैसे दो!" की आवाजसे गली गूँज उठती थी। पहले तो खुदाराम दो-चार बार लड़कोंको मुंह बिगाड़-बिगाड़कर डरानेकी कोशिश

करते; फिर, दो-तीन बच्चोंको पीठपर चढ़ाकर, बगलमें दबाकर या कंधेपर उठाकर भाग खड़े होते। "भागा ! भागा ! हो हो हो हो ! लेना जी !" आदि कहते हुए अन्य लड़के खुदारामको रगेद लेते। अन्तमें लाचार हो वह खड़े हो जाते, बच्चोंको पीठ या कंधे के नीचे उतार देते और पूछने लगते—

"बन्दरो ! क्या चाहिये ?"

"पैसे खुदाराम, पैसे !"

खुदाराम बड़े जोरसे हँसते-हँसते खाली मुट्ठीको बन्दकर इधर-उधर हाथ चलाने लगते। चारों ओर झन्न-झन्नकी आवाज गूंज उठती। लड़के प्रसन्न होकर पैसे लूटने लगते—और खुदाराम नौ-दो-ग्यारह हो जाते !

खुदारामको सबसे अधिक इन लड़कोंने मशहूर किया।

इसके बाद एक घटना और हुई जिससे उनकी शोहरत चौगूनी बढ़ गयी। किसी गरीब चमारके पाँच वर्षके पुत्रको हैजा हो गया था। उसके पास वैद्य, हकीम या डाक्टर बाबूके लिये पैसे नहीं थे। कई जगह जानेपर भी किसीने उस अभागेकी सुध न ली। बेचारा लड़का उपचारके अभावसे मरने लगा।

उसी समय उधरसे खुदाराम लड़कोंकी मण्डलीके साथ गुजरे। चमारकी स्त्रीको दरवाजेपर बैठकर रोते देख वह उसके सामने जाकर खड़े हो गये। पूछने लगे—

"क्यों रो रही है ?"

स्त्रीने उत्तर तो कुछ न दिया, हां, स्वरको 'पंचम' से 'निषाद' कर दिया।

"क्यों रोती है रे ? बोलती क्यों नहीं, तुझे भी पैसे चाहिये ?"

"पैसे नहीं" स्त्रीने इस बार हिचकते-हिचकते उत्तर दिया "दवा चाहियें। मेरा लाल हैज़ेसे मर रहा है।"

"तेरे बच्चेको हैजा हो गया है ? पगली कहींकी। इतना खाना क्यों खिला दिया ? मुझे तो कभी कुछ खिलाता नहीं। कुछ खिला तो तेरा बच्चा अभी चंगा हो जाय।"

"बाबा, मेरे घरमें तुम्हारे खाने लायक है ही क्या ? कहो तो चने खिलाऊं।"

"ला, ला ! जो कुछ भी हो दौड़कर ले आ ! तेरा बच्चा अभी अच्छा हो जायगा।"

स्त्री अपने मकानमें गयी और एक छोटी सी पोटलीमें पाव-डेढ़-पाव भुने हुए चने ले आयी। खुदाराम ने पोटली लेकर बालक मण्डलीको चने दान करना आरम्भ किया। देखते-देखते पोटली साफ़ हो गयी। केवल चार-पाँच चने बच रहे। उन्हें स्त्रीके हाथमें देते हुए उन्होंने कहा—

"इन चनोंको पीसकर बच्चेको पिला दे। यह उसका हिस्सा है। ले जा !"

दूसरे दिन उसी चमारिनने क़स्बेभरमें यह बात मशहूर कर

दी कि खुदाराम पागल नहीं, होशियार हैं। मामूली आदमी नहीं, फ़क़ीर हैं, देवता हैं।

फिर तो हिन्दू मुसलमान दोनों जाति के लोगों ने—विशेषतः स्त्रियों ने खुदाराम को न जाने क्या-क्या बना डाला। कितनों के बच्चे उनकी ऊटपटांग औषधियों से अच्छे हो गये। कितनों को खुदाराम की कृपा से नौकरी मिल गयी। कितने मुक़दमे जीत गये। क़स्बा-का-क़स्बा उन्हें पूजने लगा।

मगर, खुदाराम ज्यों-के-त्यों रहे। उनका दिन-रात का चारों ओर लड़कों की मंडली के साथ घूमना न रुका। अच्छे-से-अच्छे धनी भी उन्हें कपड़े न पहना सके। किसी के आग्रह करने पर वह कपड़े—धोती, कुर्ता, टोपी—पहन तो लेते मगर, उसके घर से आगे बढ़ते ही टोपी किसी लड़के के मस्तक पर होती, धोती किसी ग़रीब के झोंपड़े पर और कुर्ता किसी भिखमंगे के तन पर! किसी-किसी दिन तो दो-दो बजे रात को किसी गली में खुदाराम की कण्ठ-ध्वनि सुनाई पड़ती—

तू है मेरा खुदा, मैं हूँ तेरा खुदा,
तू खुदा मैं खुदा, फिर जुदाई कहाँ।

५

सात आदमी आपस में बातें करते हुए समाज-भवन की ओर जा रहे थे। उनमें एक तो समाज के मन्त्री महाशय थे, दो हमारे परिचित पंजाबी और चार बाहर से आये हुए दूसरे आर्यसमाजी थे। बातें इस प्रकार हो रही थीं—

"मुसलमान लोग भरसक इनायत अली को हिन्दू न होने देंगे।"

"क्यों न होने देंगे? अजी अब वह ज़माना लद गया। यहाँ के सभी हिन्दू हमारे साथ हैं।"

"लड़ाई हो जाने का भय है।"

"अगर इस बात को लेकर कोई लड़े तो लड़े। बेवकूफ़ी का भार लड़ाई छेड़ने वाले पर होगा।"

"अच्छा, हम लोग इनायत के परिवार को केवल शुद्ध करें—वेद भगवान की सवारी निकालने से लाभ?"

कई एक साथ बोल उठे—"वाह! वेद भगवान की सवारी

क्यों न निकालें ? हम अपने बिछुड़े भाई को पायेंगे। ऐसे मौके पर आनन्द-मंगल मनाने से डरें क्यों ?

"सवारी पर" पहले महाशय ने कहा—"मुसलमानों ने आक्रमण करने का निश्चय कर लिया है। यह मैं सच्ची खबर सुना रहा हूँ।"

"देखो भाई, इस तरह दबने से काम न चलेगा। हम किसी की धार्मिक कृति में बाधा नहीं देते, तो कोई हमारे पथ में रोड़े क्यों डालेगा ? फिर, अगर उन्होंने छेड़ा, तो देखा जायगा ? भय के नाम पर धर्म कभी न छोड़ा जायगा।"

इसी समय बगल की एक गली से लंगोटी लगाये खुदाराम निकले। वह वही गुनगुना रहे थे—

तू है मेरा खुदा, मैं हूँ तेरा खुदा,
तू खुदा, मैं खुदा, फिर जुदाई कहाँ।

मन्त्री महाशय ने पुकारा—

"खुदाराम !"

"चुप रहो !" खुदाराम ने कहा—"मैं कोई युक्ति सोच रहा हूँ।"

"कैसी युक्ति सोच रहे हो, खुदाराम ? हमें भी तो बताओ।"

"सोच रहा हूं, कि क्या उपाय करूँ, कि खुदा-खुदा में लड़ाई न हो। तुम लोग लड़ोगे ?"

"नहीं लड़ने का विचार नहीं है, पर, सवारी ज़रूर निकलेगी।"

"खाना नहीं खाऊँगा, पर, मुँह में कौर ज़रूर डालूँगा। हा हा हा हा! यही मतलब है न?"

"लाचारी है, खुदाराम।"

"तो धर्म के नाम पर खून की नदी बहेगी? हा हा हा हा! तुम लोग इन्सान क्यों हुए? तुम्हें तो भालू होना चाहिये था, शेर होना चाहिये था, भेड़िया होना चाहिये था। वैसी अवस्था में तुम्हारी रक्त-पिपासा मज़े में शान्त होती। धर्म के नाम पर लड़ने वाले इन्सान क्यों होते हैं?"

अपरिचित आगन्तुक आर्यों ने शर्माजी से पूछा—

"क्या यह पागल है?"

"हाँ, हाँ, खुदाराम ने कहा—"कुरान नहीं पढ़ा है, इसलिये पागल है, सत्यार्थ प्रकाश नहीं देखा है इसलिये पागल है, धर्म के नाम पर खूरेज़ी नहीं पसन्द करता इसलिये पागल है, खद्दर का कुरता नहीं पहनता इसलिये पागल है, लेक्चर नहीं दे सकता इसलिये खुदाराम ज़रूर पागल है। हा हा हा हा! खुदाराम पागल है। मुसलमान कहते हैं—'तू पागल है; इस बीच में न पड़!' हिन्दू भी यही कहते हैं। अच्छी बात है—लड़ो! अगर होशियारी का नाम लड़ना ही है तो—लड़ो!"

खुदाराम

तू भी इन्सान है, मैं भी इन्सान हूँ,
गर सलामत हैं हम, तो खुदाई कहां।
तू है मेरा खुदा, मैं हूँ तेरा खुदा,
तू खुदा, मैं खुदा, फिर जुदाई कहां।

खुदाराम नाचता-कूदता हो-हो-हो करता अपने रास्ते लगा।

६

क़स्बे के हज़ारों हिन्दू मर्द समाज-मन्दिर की ओर वेद-भगवान के जुलूस में शामिल होने के लिये चले गये। मुसलमान पुरुष भी, पुराने पीरकी मसजिदमें, जुलूसमें बाधा डालने के लिये सशस्त्र एकत्र हो गये। हिन्दू और मुसलमान दोनोंके घरों पर या तो बूढ़े बचे थे या बच्चे और स्त्रियाँ। घर-घर का दरवाजा भीतरसे बन्द था।

एक मुसलमान के दरवाज़ेपर किसीने आवाज़ दी—

"माँ!"

"कौन है?"

"ज़रा बाहर आओ, माँ! मैं हूँ खुदाराम।"

दरवाज़ा खोलकर बूढ़ी बाहर निकली।

"क्या है खुदाराम? खाना चाहिये?"

"नहीं माँ, आज एक भीख मांगने आया हूँ—देगी न?"

"क्या है फ़क़ीर? तुम्हें क्या कमी है? मांगो, तुमने मेरी

बेटी की जान बचायी है। हम हमेशा तुम्हारे गुलाम रहेंगे। मांगो क्या लोगे ?"

"पहले क़सम खा—देगी न ?"

"क़सम पाक परवरदिगारकी ! खुदाराम, तुम्हारी चीज़ अगर मेरे इमकानमें होगी तो जरूर दूंगी।"

"तो, चलो मेरे साथ ! हम लोग हिन्दू-मुसलमानोंका झगड़ा रोकें। बच्चों को भी ले लो। मैं मुहल्ले भरकी—क़स्बे भरकी—औरतों और बच्चों की पलटन लेकर दोनों जातियों के पुरुषों पर आक्रमण करूंगा, उन्हें खुदा या धर्मके नामपर लड़नेसे रोकूंगा।"

मुसलमान जननी अवाक्-सी खड़ी रह गयी ! खुदाराम कहता क्या है ?

"चुप क्यों हो गयीं, माँ ? तूने मुझे भीख देने की क़सम खायी है। मैं तेरे हितकी बात कहता हूँ। इस रक्त-पातमें पुरुषोंके नहीं, स्त्रियोंके कलेजेका खून बहाया जाता है। स्त्रियां विधवा होती हैं, माताएं अपने बच्चे खोती हैं, बहिनें अपमानित होती हैं। पुरुषोंकी यह ज्यादती तुम्हीं लोगोंके रोकनेसे रुकेगी। चलो ! उन पत्थरोंके आगे रोओ और उन्हें लड़नेसे रोको। उन्हें बताओ कि तुम्हारे शरीर तुम्हारी माताओं की धरोहर हैं। उनकी इच्छाके विरुद्ध उनका नाश करने वाले तुम कौन हो ? देर न करो, नहीं तो सब चौपट हो जायगा।

एक ओर उत्तेजित मुसलमान खुदाके नाम पर ईंट और डण्डे चलानेपर उतारू थे, दूसरी ओर हिन्दू। वेद भगवानका जुलूस—शुद्ध [इनायत अली] रघुनन्दनप्रसादके परिवारके साथ और हजारों हिन्दुओंके साथ मसजिदके पास डटा था। युद्ध छिड़ने ही वाला था कि गंगाकी कलकल धाराकी तरह हजारों स्त्रियोंकी कण्ठ-ध्वनि मुसलमान दलके पीछे सुनाई पड़ी। पहले खुदाराम गाते और उनके बाद स्त्रियां उसी पदको दुहराती थीं—

तू है मेरा खुदा, मैं हूँ तेरा खुदा,

तू खुदा मैं खुदा, फिर जुदाई कहां।

छोटे-छोटे बच्चोंके कण्ठकी उस कोमलताके आगे, माताओंके कण्ठकी करुण-धाराके आगे, उत्तेजित युवकोंके हृदयकी राक्षसता मुग्ध होकर, पुलकित होकर और नतमस्तक होकर खड़ी हो गयी! मुसलमान दलने स्त्रियोंके इस जलूसके लिये चुपचाप रास्ता दे दिया। हिन्दू दलवाले आँखें फाड़-फाड़कर खुदाराम और उसकी स्वर्गीय सेना की ओर देखने लगे। उस सेनामें हरेक हिन्दू और प्रत्येक मुसलमानके घरकी माताएँ और बहनें, बेटे और बेटियाँ थीं।

"तुम लोग यहाँ क्यों आयीं?" मुसलमानोंने भी पूछा।

"तुम लोग यहाँ क्यों आयीं?" हिन्दुओंने भी प्रतिध्वनिकी तरह मुसलमानोंके प्रश्नको दुहराया। एक मुसलमान बूढ़ी आगे बढ़ी—

"हम आयी हैं तुम्हें मरनेसे बचानेके लिये। तुम हमारे बेटे हो—वे बेटे, जिन्हें हमने रात-रात भर जागकर, भूखों रहकर, दुआएँ मांगकर अपनी आंखोंको खुश रखनेके लिये, दिलको शांत रखनेके लिये इतना बड़ा किया है। तुम्हारे लिये हम खुदाकी इबादत करतीं हैं—तुम्हीं हमारे खुदा हो।

"यह क्या हो रहा है? धर्म के नामपर खून बहाने की क्या जरूरत है? तुम्हें यह शरारत किस शैतानने सिखायी है? बच्चो? तुम्हारी माँएँ तुम्हें खोकर अन्धी हो जायँगी, उनकी जिन्दगी खराब हो जायगी। बहिश्त पानेपर भी तुम्हें चैन न मिल सकेगा। लड़ो मत! खूनसे पाजी शैतान भले ही खुश हो जाय, पर, खुदा कभी नहीं खुश हो सकता। खुदा अगर खून पसन्द करता, तो, हमारे वजू करनेके लिये पानी न बनाकर खून ही बनाता। गंगा खूनी गंगा होती, समन्दर खून का समन्दर होता। खूनके फेरमें न पड़ो, मेरे कलेजो! खुदा खून नहीं पसन्द करता।"

"वेदके पागलो?" खुदारामने हिन्दुओंको ललकारा—"चलो, ले जाओ अपना जुलूस? माताएँ तुम्हें रास्ता देतीं हैं।"

मुसलमानोंके हाथके शस्त्र नीचे झुक गये। बाजा बजानेवाले बाजा बजाना भूल गये। माताओंने रास्ता बनाया और वेद भगवानकी सवारी—हजारों मंत्र-मुग्ध हिन्दुओंके साथ निकल

गयी !

सावनके बादलकी तरह मधुर-ध्वनिसे खुदाराम पुनः गरजे, माता वसुन्धराकी तरह माताओं के हृदयसे पुनः प्रतिध्वनि हुई—

तूने मन्दिर बनाया, तू भगवान है,
मैंने मसजिद उठायी, मैं रहमान हूं।
तू भी भगवान है, मैं भी भगवान हूं,
तू खुदा, मैं खुदा, फिर जुदाई कहां।

इस पवित्र जुलूसके नेता थे खुदाराम; उनके पीछे हिन्दू-मुसलमान बच्चे; बच्चोंके पीछे दोनों जातिकी माताएं और सबके पीछे मुसलमान पुरुष—जुलूसके सशस्त्र रक्षकोंकी तरह चल रहे थे। प्रकृति पुलकित कलेवरा थी, तारिकाएं खिलखिला रही थीं, चन्द्रमा हँस रहा था। यह दृश्य पृथ्वीका स्वर्ग था !

चन्द हसीनों के ख़ुतूत

(पता--)

मिसेज़ अली हुसेन

मार्फ़त—ख़ानबहादुर मुहम्मद हुसेन,

हज़रतगंज, लखनऊ।

गर्ल्स-कालेज होस्टल,
कलकत्ता।

मेरी प्यारी बीबी, २८—११—२५

हज़ार बार प्यार !

मैं जानती हूँ, कि तुम 'बीबी' कहनेसे चिढ़ती हो। मुझसे 'भाभी' कहलाना चाहती हो। कितनी बार जबसे मेरे ग़रीब भाईके गले पड़ी हो (माफ़ करना !) तुमने मेरे मुंहको दोनों हाथोंमें लेकर, 'बीबी' कहनेके लिये मेरे गालोंपर तमाचे मारे हैं। इसीसे तो, मैंने अपनी आदत नहीं छोड़ी। बीबीके तमाचे बड़े मीठे होते हैं। मेरी बातोंका एतबार न हो तो भैयासे (अपने 'उनसे') पूछ देखो। एक बात और, अगर ख़तमें 'बीबी' लिखनेके कारण तुम्हारे हाथ मेरे गालोंसे मिलनेके लिये बेहद बे-क़रार हों, तो उन्हें अपने 'उन्हीं' के गालोंसे मिला देना। गुस्से को पी मत जाना। नुक़सान करता है (हा हा हा हा !)

तुम मनमें मुझे कोसती होगी कि दो महीने तक मैंने तुम्हें एक भी ख़त—कसम खानेको भी—नहीं लिखा। इसका एक बहुत बड़ा—तुम्हारे चोटी से ऐड़ी तक लटकते हुए बालों से भी

बड़ा—सबब है। सुनोगी? तुम्हारे सुनने न सुननेकी पर्वाह कौन करता है? मैं तुम्हें अपना 'राज़े-दिल' ज़रूर सुनाऊँगी। तुमने भी 'अपने दिलकी' सुनानेके वक्त मेरे सुनने न सुननेकी पर्वाह नहीं की थी। याद है?

बीबी, दिलकी बातें तुम्हारे रू-ब-रू कहनी होती तो जैसे चाहनेपर भी मारे हयाके मैं कुछ न कह पाती। ख़त लिख रही हूं, इससे हिम्मत बढ़ी हुई है। ज्यादा तूल न देकर मैं साफ़-साफ़ क़बूल किये लेती हूँ कि 'आजकल बेक़रार हम भी हैं।' मेरी बे-क़रारी उसी मुहब्बतकी बे-क़रारी है जिसकी चर्चा तुम्हारे मुँहसे सुनकर मैं मन ही मन सोचने लग जाती थी कि—"क्या कोई ज़माना हमारी ज़िन्दगीमें ऐसा भी आता है, जिसमें हम किसी अपने ऐसे 'इन्सान' के लिये बे-क़रार हो उठते हैं?" उस वक्त मुझे तुम्हारी बातें पहेली-सी (मगर दिलचस्प) मालूम होती थीं। आज मैं उसी दिलचस्प पहेली—मुहब्बतके फेरमें पड़ी-सी मालूम पड़ती हूँ। आज मेरे दिलमें—'एक आग-सी लगी है, क्या जानिये कि क्या है?'

पिछले अक्टूबर माहकी बात है। उस दिन हमारे होस्टलकी देख-रेख करनेवाली (सुप्रिंटेण्डेण्ट) मिसेज़ किडने, होस्टलकी लड़कियोंसे कहा कि—'आज कलकत्ता कालेजके तालिबइल्मों और फ़ोर्टविलियमके गोरोंसे फुटबाल 'मैच' होगा। तुममेंसे जो

देखना चाहे वह ठीक तीन बजे तैयार रहे।' उस दिन १२-१५ दूसरी लड़कियोंके साथ मैं भी 'मैच' देखनेके लिये गयी। मैदान में हजारों तमाशबीन इकट्ठे थे। गोरे भी, गोरियाँ भी, काले भी (और, अगर तुम बुरा न मानो तो हमारी जैसी 'कलियाँ' भी)। ठीक वक्तपर खेल शुरू होनेकी सीटी 'रेफ़री' या खेलमें फैसला देनेवाले पञ्चने दी। दोनों ओरके खिलाड़ी मैदानमें उतरे एक ओर मोटे-मोटे बूट और खेलकी पोशाक पहने चट्टे गोरे, सुफेद या कोढ़के रंगके 'सोल्जर्स' और दूसरी ओर साँवले, मटमैले, बादामी और कोई-कोई नीम-गोरे कलकत्ते कालेजके 'स्टूडेण्ट' थे। कालेजके खेलाड़ी नंगे-पांव थे। खैर।

खेल शुरू हुआ। दोनों ओरके खेलाड़ी जी-जान से अपने खिलाफ खेलनेवालोंको हरानेकी धुनमें लग गये। तमाशाई कभी एक गेंद लेकर बढ़ते हुए, खेलाड़ी को बढ़ावा देने लगे कभी दूसरे को। मगर——उफ़! क़सम खुदाकी! फौजी गोरे गजबकी फुर्तीसे खेल रहे थे। देखते-देखते उन्होंने कालेजवालोंपर तीन गोल किये। आधा वक्त (हाफ़ टाइम) खत्म हो गया। चारोंओर लोग चर्चा करने लगे——

"वाह, वाह! आखिर अंग्रेज ही ठहरे। क्या आफतकी तरह खेलते हैं!"

दो आदमी हमारी कुर्सियोंके सामनेसे इस तरह बातें करते निकल गये—

"क्या कालेजवाले हार जायंगे ?"

अभीसे ही घबराने लगे ?" दूसरेने कहा—अभी आधा वक़्त बाक़ी है। कालेजकी 'टीम' में कुछ लड़के ऐसे भी हैं, जो 'हाफ़ टाइम' के बाद जी लगाकर खेलते हैं। खासकर मुरारी-कृष्ण तो पिछले काँटे गजबका खेलता है।"

उसी वक़्त कालेजका एक खेलाड़ी उन दोनोंको हमसे थोड़ी दूरपर रोककर बातें करने लगा।

"ये लड़कियाँ गर्लस् कालेज की हैं ?"

उनमेंसे एकने उत्तर दिया—"मालूम तो ऐसा ही होता है। क्यों ? किसीपर 'आही गया, दिलही तो है' का मज़मून हो रहा है क्या, भाई याकूब ?"

मैं मिसेज़ किडकी बग़लमें बैठी थी मेरी ओर बुरी तरहसे इशारा कर उस 'याकूब' के बच्चेने कहा—

"ज़रा उस 'बुत' को देखो !"

तीनोंने दूरसे—तिरछी नज़रोंसे—मेरी ओर देखा। मैंने अपनी आँखें फेर लीं। वे सब भी, और भी क्या जाने क्या-क्या बकते आगे बढ़ गये। खेल फिरसे शुरू हुआ। इस बार खेल शुरू होनेसे पहले कालेज-टीमके केप्टन ने पुकारा—

"मिस्टर मुरारीकृष्ण···!"

"फ़ारवर्ड' खेलने वाले एक गोरे, सुन्दर और लम्बे नव-

युवकने केप्टनकी ओर देखकर कहा—

"बेग योर पार्डन···"

"बी केयरफुल", केप्टनने उस नवयुवकको बढ़ावा देते हुए कहा—"ट्राइ योर अटमोस्ट, डोण्ड लूज़ !"

इस बार तमाशबीनोंका मजमा दीवानों की तरह चिल्ला-चिल्ला कर मुरारीकृष्णको बढ़ावा देने लगा। खेल शुरू होनेके पाँच मिनटके भीतर मुरारीने गोरोंपर एक गोल किया। चारों ओरसे तालियोंकी भरमार हो गयी। इसके बाद बीस मिनटोंके भीतर दूसरे खेलाड़ियोंकी मामूली मददसे मुरारी ने पाँच गोल किये। फिर, हज़ार नाक रगड़ कर भी गोरे कालिजवालों को न हरा सके। मैच 'ओवर' (ख़त्म) हो गया।

चारों ओर से लोग मुरारीपर टूट पड़े। अंग्रेज 'रेफ़री' ने—जो फौजी और खेलका बड़ा शौकीन मालूम पड़ता था—मुरारीको गोदमें उठा लिया—"वेल डन, माइ यंग प्लेयर !" अख़बारके भूतोंने दनादन मुरारीकी तस्वीरें लेनी शुरू कर दीं। कुर्सीसे उठती हुई मिसेज़ किडने हमसे कहा—"न हुआ, कलकत्ता लण्डन न हुआ। नहीं तो आज मुरारीकी इज्जत देखने लायक होती।"

उस दिन मैंने देखा कि अपने प्रशंसकोंके बीच में सीधा, खूबसूरत और खुश खड़ा हुआ मुरारी, एकबार नहीं हज़ारबार देखनेकी चीज़ है। कितना भोला चेहरा, कैसा हँस-मुख जवान,

कैसा सुन्दर !

मिसेज किड (हमारी सुप्रेण्टेण्डेण्ट या वार्डेन) ने कहा—चलो देर हो रही है। उनके पीछे हम सबकी-सब अपनी मोटरकी ओर चल पड़ीं। मैं सबके पीछे चल रही थी। थोड़ी दूर चलने-पर सड़कके किनारे 'लान' पर खड़ा वही 'याकूब' दिखाई पड़ा। मुझे देखकर वह (मुझे सुनानेके लिये) गाने लगा—

"हमने देखी है किसी शोखकी मस्ती भरी आंख,
मिलती जुलती है छलकते हुए पैमाने से।"

शेर बुरा नहीं था। मगर कहने वालेका मुँह और उसके मुँह परके भाव इतने बुरे थे कि अगर मेरा बस चलता तो मैं.........।

मोटर अभी थोड़ी दूरपर थी। इतनेमें मेरी नजर अपने जूतेके फीते पर गयी, जो खुल गया था। मैं रुक कर उसे बाँधने के फेरमें अपने गरोहके पीछे छूट गयी। इससे कुछ फ़ायदा ही हुआ। फ़ीता बाँधकर चलनेके पूर्व मैंने पीछे मुड़कर देखा, कालेजके बंगाली प्रिंसिपल के साथ-साथ (शायद उन्हें मोटरतक पहुँचानेके लिये) कई लड़के आरहे थे, जिनमें मुरारी भी था। याकूब भी उसी गरोहमें शामिल होकर मेरी ओर बढ़ा आ रहा था।

इसमें कोई शक नहीं, याकूब को देखकर मैं नफ़रतसे दो क़दम आगे बढ़ गयी। मगर, इसमें भी कोई शक

नहीं कि मुरारीको यादकर मेरी चाल—आपही आप—धीमी पड़ गयी। मैं फ़िज़ूल ही अपने दूसरे पैरके जूतेका फ़ीता खोलकर बाँधने लगी। सबके सब मेरे पास आ गये। बल्कि प्रिन्सपल साहब तो चार-पाँच क़दम आगे भी बढ़ गये।

मुझे फ़ीता ठीक कर सर उठाते देख, याक़ूबने मुस्करा कर दरियाफ़्त किया—

"कुछ खो गया है?"

किसी दूसरे लड़केने—खुदा उससे समझे!—किसी तीसरे लड़केसे, धीरेसे (मगर मेरे सुन लेनेके लिये काफ़ी ज़ोरसे) कहा—

"दिल खो गया है!"

मैंने सुनी-अनसुनी कर 'एटिकेट' के ख्यालसे याक़ूबसे कहा—'नथिंग, थैंक्यू' और फिर मुरारीकी ओर देखकर (मनमें कुछ झेंपते-झेंपते) कहा—

"कांग्रेचुलेशन्स! आप क़ाबिल तारीफ़ खेलाड़ी हैं।" मेरी बधाई और बात सुनकर सब लड़के ताज्जुबमें आ गये। इसके बाद किसीने कुछ कहा भी या नहीं, मुझे याद नहीं। मैं बड़ी तेज़ीसे अपनी मोटरकी ओर बढ़ी। रास्तेमें मन पछताने लगा—बेशर्म कहीं की! औरत होकर इतनी बे-हयाई? मर्दों से इस तरह बातें करना! इतनी हिम्मत!!

मगर, मैं क्या करूँ बीबी! अब समझमें आ रहा है कि

चन्द हसीनों के खुतूत

इन्सानकी एक हालत ऐसी भी होती है जिसमें वह अपने आपेमें नहीं रह सकता। और वह हालत, मैं समझती हूँ, मुहब्बत की है। अब मेरी वह शेखी काफ़ूर हो गई जो तुम्हारे आगे इतरा कर कहती थी कि--"अरे हटो ! यह सब ख़यालो-पुलाव है। दुनियामें मुहब्बत नामकी कोई चीज नहीं।" उस वक्त तुम मेरा मुँह चूम कर और एक ठंडी साँस खींचकर कहा करती थीं--मुझे एक एक हर्फ़ याद है--"मुहब्बत क्या है इसका पता अभी नहीं, चार बरस बाद लगेगा, मेरी जान। उस वक़्त तुम देखोगी कि मुहब्बत ख़याली-पुलाव होनेपर भी कैसी क़ीमती और ख़रीद लेने लायक चीज होती है।" बिल्कुल ठीक कहा था। तस्लीम करती हूं। मानती हूं।

सुनती हो, इस वक़्त तुम्हारी 'नर्गिस' को होश नहीं है। वह आंखें बन्दकर एक बुत-परस्तकी परस्तिश करती है। क़ाफ़िर को पूजती है।

सुनती हो, जिसने कभी दिल से 'खुदा' को नहीं याद किया वह 'मुरारी' को जपा करती है। जिसके पैर कभी 'खुदाके घर' की ओर नहीं उठे उसके पैर मुरारीके घरकी ओर चलनेमें इतने खुश होते हैं गोया, बहिश्तकी तरफ़ जा रहे हैं। सुनती हो—

किसी के काकुलो-रुखके निसार हम भी हैं,
शिकार गर्दिशे लैलो-निहार हम भी हैं।

बाकी बातें, कभी फिर।

चन्द हसीनों के खुतूत

तुम्हें मेरे सरकी क़समइन बातोंको किसीसे कहना मत। नहीं तो फिर अपनी नर्गिसका मुँह न देख सकोगी।

तुम्हारी,

नर्गिस।

(पता—)

श्रीगोविन्दहरि शर्मा

लाठी-महाल, कानपुर ।

Cawnpore.

कलकत्ता-कालेज-होस्टल

कलकत्ता

१६–११–२५.

प्रियतम,

दो बरस बाद तुम्हें पत्र लिख रहा हूं। दो बरस बाद 'प्रियतम' की याद आनेसे मेरे अँधेरे हृदय-मन्दिर में अनन्त प्रभा-पूर्ण स्मृतियाँ जागरित हो उठी हैं। हमारा 'सुन्दर-व्यतीत'— ओ हो हो !!

तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ न। आज तुम जरूर सपने में दर्शन दोगे। जरूर मिलना। वैसे ही, जैसे अक्सर हम प्रयागमें मिला करते थे। वैसीही सुन्दर सन्ध्या हो; वैसेही मैं पढ़कर लौटूं; वैसे ही किसीसे मिलनेकी जल्दीमें हाथ-मुंह धोकर तैयार रहूँ; वैसेही प्रेमसे उमड़ते तुम आओ; वैसेही एक दूसरे को देखकर मारे प्रसन्नताके, हम दोनों एक बार सब कुछ भूलकर खिल उठें; वैसे ही तुम कहो—"मूली, जल्दी करो!" मैं मुँह फुलाकर बिगड़ूं— "जाइये, जो 'मूली' हो उससे जल्दी करनेके लिये कहिये।" वैसेही—

चन्द हसीनों के खुतूत

तुम—मूली !

मैं—(एक साँसमें) तुम मूली, तुम गाजर, तुम बैगन, तुम लौका !

तुम—अच्छा श्रीमान् बाबू मुरारीकृष्णजी साहब, 'फोमोग्राफ-ए-हिन्द', दामे अकबाल हू। अब संतुष्ट ? जरा जल्दी कीजिये। शाम यही कर दोगे तो हमलोग खेलेंगे क्या।

वैसे ही—"शोर न करो जी," कहकर मैं तुम्हारे ऊपर तकिया फेंकूँ, तुम मुझपर अपना कोट, टोपी, कमीज़ (उतार-उतारकर) फेंको। वैसेही, मैं कहूं—"हैण्डस् अप !" तुम कहो—"हैण्डस् अप !" मैं तुम्हारे (गोरे, भरे और खूबसूरत) गालपर चट्टसे एक चित्ताकर्षक-चाँटा लगा दूँ । वैसेही तुम मुझसे लिपट पड़ो; मुझे वशमें कर लो; जमीन पर चित्तकर दो; छातीपर सवार हो जाओ—"दुष्ट !" मैं नीचेसे ठठाकर कहूं—"दुष्टका प्रियतम !" तुम कहो—"चल !" मैं कहूँ—"छोड़ भी !"

वैसा ही सपना आज दिखाओ; प्रियतम ! कैसे अच्छे थे वे दिन !!

मैंने तुम्हारे पास अन्तिम पत्र गया कांग्रेसके वक्त भेजा था। उन दिनों तुम वहां, गया कांग्रेसकी स्वागतकारिणी समिति के महामन्त्री के आग्रहसे, स्वयंसेवकों का संघठन कर रहे थे। इसके बाद क्या हुआ (तुम कैसे थे; कहाँ थे ?) मुझे मालूम नहीं। परसाल किसीने कहा था कि तुम 'कानपुर-राष्ट्रीय-संघ'

के मन्त्री हो! ईश्वर करे, प्रियतम, तुम कानपुर के सर्वश्रेष्ठ नेता हो जाओ! मगर हम गरीबोंको (कांग्रेस भी गरीबोंकी मदद ही करती है) भूलना मत! तुम्हें याद है? हमतुम्हारे 'प्यारे' हैं। हम, "काहू देसमें रहेंगे तौहू रावरे कहावेंगे।"

ज़रा जल्दी करता हूं। बहुत बड़ी दास्तान तुम्हारे सामने पेश करनी है। आजकल कलकत्तेमें बड़ी विपत्तिमें पड़ा हूं। तुम हमेशाके मेरे संकटहारी हो। तुम्हारी जानकारी में मेरे पास विपत्ति आ ही नहीं सकती। तुम मेरे जीवनकी ढाल हो। तुम्हारी आँखोंके आगे मेरा हृदय हमेशा ही पारदर्शी रहा है। तुम क्या नहीं जानते? मेरी मित्रताके पवित्र-गौरव; तुम क्या नहीं कर सकते? अबतक—आवश्यकता पड़ते पर—संसारमें और किसीसे नहीं केवल तुम्हींसे प्यारी सलाहें लेता था। और तुम्हारी सलाहें देवताकी आशिर्वादकी तरह मंगलकारिणी होती आयी हैं। इस बार भी तुम्हीं सलाह दो, तुम्हीं बचाओ! प्रियतम,—"डगमग डोले मोरी नैया!"

छोटीसी कहानी है। एक दिन गोरोंसे फुटबाल 'मैच' खेलकर लौट रहा था कि रास्तेमें एक परम रूपवती बालिकासे भेंट हुई। वह सोनेकी ढेरकी तरह तेजोमयी और हीरेकी मालाकी तरह 'चमचम' थी। तुम्हारी-सी आँखें, तुम्हारा-सा सुन्दर मुख, तुम्हारी-सी मधुर मुस्कराहट, तुम्हारी तरह नाक, तुम्हारे-से ओंठ (उसे तुम देखो तो 'बहन! बहन!! पुकार उठो!) तुम्हारे

हृदयकी कसम ! तुम्हारी मुस्कराहटकी शपथ !!

वह एकाएक बिजलीकी तरह मेरी आँखोंके आगे कौंध गयी। मैं—सच कहता हूँ—चकपका उठा। मेरे एक साथीने पूछा—

"कहांकी जान-पहचान है, हजरत ?"

"छुपे रुस्तम निकले...!"

"अरे भाई इनके हुनर ही ऐसे हैं। खुदाने मुझे वैसा 'लो-वर' नहीं बनाया जैसा तुम्हें दोस्त ! नहीं तो ऐसी चीज ! 'थ' न थी हमारी क़िस्मत...।"

मैंने दोस्तोंसे दरियाफ्त किया तो मालूम हुआ कि वह 'श्रीमती' स्थानीय गर्ल्स कालेजकी एक 'स्टूडेण्टा' हैं। जो हो, मुझे उस बालिकाके दर्शनोंसे बड़ा सुख मिला। एक ही दृष्टिमें मुझे उसकी नजरोंमें वह चीज दिखायी पड़ गयी (सम्भव है मैं भूल करता होऊँ) जो, इस लोकमें जल्द मिलनेकी नहीं (मगर यह बात मुझे दो महीने बाद मालूम हुई ; उस दिन बात वहीं रह गई)।

गर्ल्स-कालेजके होस्टलकी ओरसे हम लोग दिनमें दो बार आया-जाया करते थे। इससे पहले मैंने कभी होस्टल की इमारत की ओर आँखें उठाकर देखा भी नहीं था। मगर, उक्त घटनाके बाद, उस ओर आतेजाते, होस्टलके पास आँखें 'किसी' को ढूँढ़ने लगीं। निरुद्देश्य रूपसे—मगर, बड़े प्रेमसे दिल लगाकर। आखिर हफ्तों बाद, एक दिन आँखों की अभिलाषा पूरी हुई। मैं

बाइसिकिल पर चढ़ा (भीड़ हटानेकेलिये अविराम-स्वर से घंटी घनघनाता हुआ) गर्ल्स-कालेज होस्टलका फाटक 'क्रास' कर रहा था कि उनका दल दिखायी पड़ा। वे लोग भी कहीं जा रही थीं। टैक्सियां खड़ी थीं।

मुझे देखकर 'उनकी' आँखें हँस पड़ीं, ओंठ मुस्करा पड़े!

'उन्हें' देखकर मेरी आँखें लोट-पोट हो गयीं, और हृदय क्या जाने क्या हो गया।

"अच्छे हैं ???" उनके सुन्दर मुख, सहज सरस आँखोंने पूछा।

"धन्यवाद!" मेरे रोम-रोमने कहा। मैं क्षण-भरके लिये बाइसिकिलसे नीचे उतर उनकी ओर बढ़ा।

"मुझे (उस दिनकी) आपकी कृपा याद है...।"

"मैं एडेन गार्डन जा रही हूं।" भाव से भृकुटि-विलास करती हुई उन्होंने कहा—"हम प्रायः रोजही उधर जाती हैं।"

इससे अधिक कहने-सुननेकी उस दिन न तो हममें हिम्मत थी और न समय। वे लोग टैक्सियों पर बैठीं और अपने रास्ते लगीं। मैं भी, आसमानपर पांव रखता हुआ, अपने रास्ते चला।

उस दिन 'एडेन-गार्डेन' में चारों ओर भगवान् सुधाकरकी किरणें ज्योत्सनामें लिपटकर नाच रही थीं। बिजलीकी अनन्त छोटी-छोटी बत्तियोंकी माला उनके गलेकी मणि-मालाकी तरह

मालूम पड़ती थीं। मैं शुरू शामसे ही वहां गया था। वहीं, 'किसी' की तलाशमें। मगर शाम क्या, दिया जल जानेपर भी 'कोई' दिखाई न पड़ा। मैं मुर्दा-दिल-सा होकर इधर-उधर टहलने और गुनगुनाने लगा—

ऐ काश ! मेरे दर पर एक बार 'व' आ जाता,
ठहराव-सा हो जाता यों दिल न जला जाता।
तबतक ही खैरियत है जबतक नहीं आता वह,
इस रस्ते निकलता तो हमसे न रहा जाता।

उसी समय "ज़रा ज़ोरसे...!" कहती हुई वह आयी।

"आज आप अकेली आयी हैं?"

"सभी हैं।"

"कहां?"

"जहाँ जिसका 'जी' है।"

"तो आपका 'जी'...?" (संकोचके मारे मैं यह न पूछ सका कि आपका जी यहीं है? मगर, आँखों ने कह दिया। उसके हृदय ने सुन भी लिया)।

"आप लोग," मैंने पूछा—"सबसे मिल-जुल और बोल-चाल सकती हैं?"

"जी नहीं," उन्होंने उत्तर दिया—"हम सबसे मिल-बोल न सकें, इसीलिये तो मिसेज़ किड हमेशा हमारे पीछे पड़ी रहती हैं।"

"आज भी हैं ?"

"हां, उधर ही कहीं अपने किसी गोरे साथीसे बातें कर रही हैं। मैं तो आपको देखकर इधर चली आयी। मैंने मिसेज़ किड को यूँही बहका दिया है कि आप मेरे जान पहचानी हैं। अच्छा, अब, मैं जाती हूँ।"

"क्यों ??"

"हा हा हा !" उन्होंने कहा—"यह 'क्यों' की एक ही रही। मानों हम लोग पु.राने—"

बात काटकर मैंने कहा—"हमलोग पुराने परिचित न होते तो आप, मिसेज किडसे कहतीं कैसे ?"

मुस्कुराकर उन्होने आंखें नीची कर लीं। प्रायः दो मिनटतक हम दोनों एक दूसरेके सामने खड़े, चुपचाप एक दूसरे को देखते रहे। बल्कि पढ़ते रहे। इसके बाद वह बोलीं—

"आपके नामका एक रुक्का है।"

"आपके पास ?"

"जी हाँ, ग़लतीसे भेजने वालेने मेरे ही पास भेज दिया। यह लीजिये।"

एक लिफ़ाफ़ा हाथमें देकर, मेरे रोकनेपर भी, वह न रुकीं, चली गयीं। लिफ़ाफ़ा सुगन्धसे लदा मालूम पड़ता था। उसके ऊपरकी लिखावट जनानी जरूर थी, मगर साफ़; ख़ूबसूरत। उस पर इतना ही लिखा था—

चन्द हसीनों के खुतूत

"मिस्टर मुरारीकृष्ण"

भीतर गुलाबी रंगके खूबसूरत लेटर पेपर पर तीन लकीरों में लिखा था—

"रविवारकी शामको गर्ल्स-कालेज-होस्टलके फाटकपर एक बार मुझसे जरूर मिलिये। मेरी क़सम—जरूर।

एन—।"

प्रियतम, मैं जानता हूं, पत्र बड़ा हो रहा है। मगर, छोटा होनेपर भी तो तुम पसन्द नहीं करोगे। इसलिये 'विस्तृत विवरण' लिख रहा हूँ। अबतक मुझे कभी ऐसा मौका न मिला कि मैं उक्त श्रीमती का नाम किसी तरह जान पाता। 'एन'—मैंने मनमें सोचा, इस 'एन' अक्षरसे कौनसा नाम संभव हो सकता है? नलिनी? मगर, वह बंगालकी तो नहीं मालूम पड़तीं। जो हो रविवार को उनसे भेंट होनेपर पहले इस 'एन' की पहेलीका अर्थ पूछूंगा।

उस दिन सोमवार था। फिर रविवारकी शामके आनेमें पूरे ५॥ दिन कई घण्टे लगे। मगर मुझे ऐसा मालूम पड़ा मानों बरसों बीत गये, रविवार हुआ ही नहीं। जिस दिन वह, बहुत दिनों से सोचा हुआ, 'रविवार' आया उस दिन न जाने क्यों मेरा मन मारे प्रसन्नता के नाच रहा था। मिलना था शाम को ५॥-६ बजे, मगर १२ बजेसे ही मैंने तैयारी शुरू कर दी। कपड़े की ट्रङ्ककी जाँच की। एक एक लत्ताको आईनेके सामने पहनकर

देखा, कौन ज़ियादा खूबसूरत मालूम पड़ता है। जूतेमें (अपने हाथसे) दो-दो बार पालिश किया। उनसे मिलनेके लिये उस दिन जैसी तैयारी मैंने की थी, वैसी तैयारी कभी किसी बातके लिये नहीं की थी। आखिर वह वक़्त भी आया।

मैं बाइसिकिलकी घण्टी टुनटुनाता गर्ल्स-कालेज होस्टलकी ओर जा ही रहा था कि मेरी 'टीम' में खेलनेवाला (कालेजमें बी० ए० का विद्यार्थी) याकूब अहमद दिखाई पड़ा। वह गर्ल्स-कालेज होस्टलकी ओरसे बाइसिकिलपर मेरी ही ओर आ रहा था—

"वाह, वाह! बड़े ठाट-बाट! किसकी 'ड्यूटी' का किला तोड़ना है?"

"अपनी बदक़िस्मती का। आप कहांसे कहां जा रहे हैं?"

"यूं ही घूम रहा हूं।" उसकी साइकिल आगे बढ़ी। मैंने कहा—

"आदाब अर्ज़ है, कभी फिर।"

उसने कहा—"बन्दगी अर्ज़ है।"

गर्ल्स-कालेज होस्टलके 'गेट' पर पहुँचते ही मैंने देखा, वह गुलाबी रंगकी सारी, पारसी कितेसे पहने फाटकके पास ही बाग़ीचेमें खड़ी कोई किताब देख रही थीं। मैंने घण्टी बजायी। उन्होंने देखा!

"मैं भीतर आ सकता हूं?" मैंने, फाटकके दरवानकी

पर्वा न कर, उन्हींसे पूछा।

उन्होंने सर हिलाकर मुँहसे कहा—"नहीं।"

आँखें नचाकर इशारेसे कहा—"हां!"

मैं भीतर दाखिल होकर उनके रू-ब-रू खड़ा हो गया।

"पहला सवाल" मैंने मुस्कराकर कहा—'मेरा' होगा। मैं जानना चाहता हूं, कि आपका शुभनाम क्या है? मुझे याद करनेवाले (या वाली) 'एन' साहब कौन हैं? 'एन' का मतलब क्या है?"

उन्होंने कहा—" 'एन' मेरी एक सखी हैं। यही उनके नाम का पहला हर्फ है। उस दिन खेलमें वह भी थीं। वही आपसे मिलना चाहती हैं। वही आप पर—।"

"चलिये," मैंने कहा—"मैं उनसे मिलकर अपने को भाग्यवान समझूँगा।"

"मगर," उन्होंने कहा—"हमारी 'वार्डेन' ने उन्हें आपसे मिलनेकी आज्ञा नहीं दी है, हमलोग लड़कियाँ हैं, आप जानते ही होंगे। हम सभी (एक्स, वाई, जेड) से नहीं मिल सकतीं।"

"तब," मुस्कराते हुए मैंने पूछा, "आपकी 'वार्डेन' साहिबाने आपको मुझसे मिलने की इजाजत कैसे दी?"

"मैंने झूठ कहकर उनकी इजाजत पायी है। मैंने बताया है कि आप मेरे पुराने जान-पहचानी हैं।"

"फिर ? अब मुझे क्या करना है ?"

"मुझसे बातें !"

"कैसी ?"

"मेरी सखीके बारेमें। उन्होंने आपसे कुछ सवाल किये हैं।"

"फ़रमाइये।"

"उन्होंने दरियाफ्त किया है कि आपकी 'वाइफ़' का क्या नाम है ?"

"वाइफ़ का ?" मैंने आश्चर्यसे उत्तर दिया—"मेरी तो शादी ही नहीं हुई है।"

उनका चेहरा मेरी बात सुन कर कमल की तरह खिल गया। वह ज़रा आगे बढ़कर मेरे पास आ रहीं और मेरी बाइसिकिलका 'हैण्डिल' पकड़कर खड़ी हो गयीं।

"मेरी क़सम…?" उन्होंने पूछा।

"मैं क़सम नहीं खाता, पर, मैं अविवाहित हूं।"

"व्याह क्यों नहीं करते ?" उन्होंने पूछा।

"माफ़ कीजियेगा" उनके व्यवहारोंसे मेरी खुली हुई हिम्मत ने बड़ा करारा सवाल किया—"आपकी शादी ?"

मुँह लाल हो गया, कान लाल हो गये, नाक लाल हो गयी ! मालूम पड़ने लगा, खालिस गुलाबकी पंखड़ियोंकी पुतली मेरी साइकिलका हैण्डिल पकड़े खड़ी है

"आपके सवालका मतलब ?" उन्होंने पूछा। उनका मुँह बहुत कुछ मेरे मुँहके क़रीब था।

"आपके सवालका मतलब ?" मैंने भी छोप रखा। मेरा भी मुख (ठीक याद नहीं, संभवतः) उनके मुखसे अधिक निकट हो गया। उनकी सासें मेरी आँखोंपर पड़ती थीं। मेरी सासें उनके ओठोंसे टकराती थीं !

"मैं जवाब देती नहीं, माँगती हूं" खूबसूरत गुस्सेके साथ उन्होंने कहा, साथ ही, उनकी नाक का सिरा मेरी नाकके सिरेसे छू गया ! एक आगसी दौड़ गयी ! बिजली छू गयी !!

मैं साधू नहीं, फ़क़ीर नहीं; मैं महात्मा नहीं, त्यागी नहीं; मैं ऋषि नहीं, मुनि नहीं; सौन्दर्यके उस लबालबभरे प्यालेको देख मेरा मन मचल गया। जीमें आया—"देखते क्या हो ? 'गुडलक' होने दो।" फिर क्या—वही हुआ।

अपनी नाक से उनकी (क्या कहूँ किसकी तरह...?) खूबसूरत नाकको, अपने ओठोंसे उनके लाल-लाल परिपक्व ओठोंको हल्का सा धक्का देते हुए मैंने कहा—"मैं भी जबाब देता नहीं माँगता हूँ !"

"वाहरी हिम्मत ! वाहरी हिम्मत!!" कहकर वह मेरी गर्दन से छोटे बच्चेकी तरह गुँथ गयीं। मारे चुम्बनोंके उन्होंने मेरा मुँह भर दिया। मैंने विवश होकर उन्हें भुजाओंमें कस लिया।

मेरी बाइसिकिल भयानक 'झन्न, झन्न" स्वरसे चारोंखाने

चित्त गिर पड़ी ! तब मुझे ज्ञान हुआ ! मैंने सोचा—"पागल हो गया हूँ ?" बाइसिकिलने संभवतः उन्हें भी ज्ञान दिया। वह भी मुझे छोड़, दूर खड़ी हो, सर और कन्धेपरके कपड़े ठीक करने लगीं।

"क्या हुआ सरकार ?" फाटकवालेने आवाज़ दी। मैंने कहा—"ज़रा सलाई लाना, लैम्प जलाना है, शाम हो गयी।"

नौकर सलाई देकर चला गया। तब तक हम दोनों होशमें आ गये थे। उन्होंने कहा—

"मेरी शादी हो गयी।"

"तो" मैंने कहा—"मेरी भी शादी हो गयी।"

आँचलके भीतरसे एक लिफ़ाफ़ा निकालती हुई उन्होंने कहा—

"इसी में मेरी सखी 'एन'का नाम और पूरा पता है।"

मैंने कहा—"अगर आपकी सखीका रूप और हृदय ज़रा भी आपसे भिन्न हुआ, तो उन्हें पूर्ण निराश होना पड़ेगा।"

"लिफ़ाफ़ा घर पर खोलियेगा। आपका पता—'कलकत्ता-कालेज होस्टल' है न ?"

★ ★ ★ ★

घर लौटकर मैंने देखा—लिफ़ाफ़ेके भीतरके काग़ज़ पर लिखा था—

"मैं लखनऊ के मशहूर रईस ख़ानबहादुर मुहम्मद हुसेनकी

लड़की हूँ। मेरा ही नाम है 'एन' या

—नर्गिस !"

मेरे पाँव-तलेकी मिट्टी निकल गयी ! मैंने अभी-अभी एक मुसलमान लड़कीको चूमा है ? मैंने ? जिसकी नसोंमें विशुद्ध हिन्दू-रक्त प्रवाहित हो रहा है ! मैंने एक विजातीय-बालिकाके चरणोंमें हृदयार्पण किया है।

पिताजी क्या कहेंगे ? प्रयाग क्या कहेगा ? समाज क्या कहेगा ? देश क्या कहेगा ? फिर, हम दोनोंकी शादी हो ही कैसे सकती है ?

प्रियतम ! हमलोगोंकी प्रतिज्ञा है, कि हम विवाहके पूर्व एक दूसरे से ज़रूर सलाह लेंगे। इस समय तुम्हारी सख़्त ज़रूरत है। बन पड़े, तो दो-चार दिनोंके लिये यहाँ चले आओ। मेरी रक्षा करो। मुझे सीधे रास्तेपर कर दो, बताओ, इस समय मेरा कर्त्तव्य क्या है ? मैं मुसलमान-दुहिता सुन्दरी नर्गिसको हृदेश्वरी बना चुका हूँ। अब क्या करूँ ? पिताजी को इस समाचार से कैसे अवगत करूँ ? इसका उनपर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

यदि तुम न आ सको, तो विस्तृत उत्तर देना। एक-एक बात का, हर एक पहलूसे।

यदि कलकत्ता आना हो, तो 'धरम' छोड़नेको तैयार होकर आना। क्योंकि मैंने 'मुसलमानिन' को चूमा है और तुम्हें मुझे चूमना होगा।

तुम्हारा…
हलचलमें पड़ा—
मुरारीकृष्ण…

(पता—)

जनाब अलीहुसेन साहब

(बार-एट-ला)

No. 00002 Chauk,

Patna City.

हजरतगंज

लखनऊ

१०—१—२६

मेरे राजा!

यह खत (जो मैं पढ़ रही हूँ) तुम्हारा लिखा है ? तुम इतने सख्त, ऐसे गुस्सेवर हो सकते हो ? इस बातपर एतबार लानेको जी नही चाहता। तुम मेरे खुदा हो। तुम्हीं इन्साफसे दूर भागोगे तो मेरी दीनो-दुनिया चौपट हो जायगी। याद करो! 'बड़े दिन' की छुट्टी खत्मकर पटना जानेसे पहले, (३१ दिसम्बर सन् १६२५ की १२ बजे रात) मेरे गलेमें हाथ डालकर तुमने कहा था—"मुहब्बत खुदा है, मुहब्बत बहिश्त है और मुहब्बत ही जिन्दगी का सबसे अच्छा लुत्फ है!" कहनेके लिये ये बातें सन् २५ में कही गयी थीं और आज सन् २६ है; मगर, जाननेवाले जानते हैं, कि इस २५-२६ में केवल कुछ दिनोंका ही फर्क है, जिनकी तादाद १० से ज्यादा नहीं।

क्या मुहब्बत और मुहब्बतके सारे मजे हमींतक महदूद हैं ? क्या तुम्हारी बहन नर्गिसके दिल नहीं है ? मैं तुम्हें और तुम

मुझे प्यार कर सकते हो। इसके लिये हम लोग अपने माँ-बाप से लड़ाई भी कर सकते हैं (और उस लड़ाईमें 'लव एण्ड हार्ट" की दोहाई भी दे सकते हैं।) मगर, यही काम दूसरे नहीं कर सकते ? क्यों ??

ज़रा दो क़दम पीछे हटकर (आजसे ४ बरस पहले जहाँ हम थे उस जगह पहुँच कर) नर्गिस की हालतपर ग़ौर करो। तुम विलायतसे 'बैरिस्टर'होकर लौटे थे। हमारे घरपर कोई जल्सा था। तुम्हारे घरवाले और तुम हमारे यहाँ मेहमान थे। मगर, तुमने क्या किया ? अपने मिहरबान 'मेज़बान' के घर चोरी की। सो भी कैसी चोरी ? 'दिल' की ! (गयी होती अदालतमें बात तो लद गये होते। सारी बैरिस्टरी हवा हो गयी होती !) चोरी ही नहीं, तुमने तो सीनाज़ोरी भी की। बड़ोंसे खुद भी उलझ गये, साथही, मुझे भी उलझनेको बहका (हाँ हाँ बहका) दिया ! सारे-का-सारा लखनऊ चक्करमें आगया ! लोग कहने लगे—"यह लड़का ईसाई होगया !" लोगोंकी लुगाइयाँ कहने लगीं—"तोबा ! यह लड़की स्कूलमें पढ़कर 'मेम'हो गयी !!"

उस वक्त अगर कोई तुमको वही बातें लिखता जो तुम आज नर्गिसको लिख रहे हो, तो तुम्हें कैसा लगता ? तुमने लिखा है—

"मैं नर्गिसकी इस हरकतको महज नादानी और बेवक़ूफ़ी समझता हूं। उसे इस तरह मुहब्बत करने का कोई हक़ नहीं है। यह तुमने बहुत बुरा किया जो मेरे लखनऊ रहनेपर इस शर्म-

नाक क़िस्से को मुझे नहीं सुनाया। उस वक्त नर्गिस भी वहीं थी। मैं उसे हर्गिज़ कलकत्ता न जाने देता। लड़कियोंको जितना पढ़ना चाहिये, वह उससे ज्यादा पढ़ चुकी। उसे नौकरी, बैरिस्टरी या लीडरी नहीं करनी है। मैं जानता हूँ, थोड़ी भी अजादी देनेसे इस मुल्ककी औरतें सरपर चढ़ जाती हैं।

ओ हो हो! मैं सदके जाऊँ तुम्हारी नसीहतोंके। तुम तो हिन्दूओंके ढोंगी पण्डितोंसे भी बढ़ गये। मैं बड़े दिनकी छुट्टियों में चन्द दिनोंके लिये घर लौटी हुई अपनी 'जान' को क्यों रंज करती? मैंने उनसे वादा किया था, कि उनके 'लव-आफेयर्स' में उनकी मर्ज़ीके ख़िलाफ़ दस्तन्दाज़ी नहीं करूँगी। ये बातें जो तुम्हें सन् २६ में मालूम हुई हैं मुझे सन् २५ के ११ वें महीनेसे ही मालूम हैं। मैंने जान-बूझकर तुम्हें इन बातोंसे आगाह नहीं किया। मैं अपनी नर्गिसको तुमसे ज्यादा चाहती हूँ। वह अपनी बात पर जब अड़ जाती है, तब उलट-पलट होकर भी, एक दुनिया उन्हें अपनी तरफ नहीं ला सकती। तुम 'नर्गिस' की इस हरकत को 'महज़ नादानी' समझते हो? क्यों न समझोगे। 'थोड़ी भी आजादी देनेसे इस मुल्ककी औरतें सर पर चढ़ जाती हैं', यह तुम जानते हो? क्यों न जानोगे। मगर हुज़ूर; क्या बन्दी यह सवाल कर सकती है, कि नर्गिसकी जैसी हरक़त 'नादानी' कही जाती है, वैसीही हरकतोंसे 'असग़री' आपकी प्यारी कैसे रह सकती है? जो आज नर्गिस करने जा रही है

यही तो उस वक्त मैंने भी किया था ? भूल गये !

'इस मुल्ककी औरतों' पर आपका 'रिमार्क' एक ही रहा। अपनी औरत की गुस्ताखी को माफ़ कीजियेगा, क्या मर्दोंके हाथमें औरतोंके दिलो-दिमाग़का, दीनो-दुनियाका, बहिश्तो-दोज़खका ठेका है ? मर्द जिसे कहे औरत उसीको प्यार करे, उसीके गले पड़े; उसीको 'अपना' बनाये ! औरतें गन्दी हैं, औरतें बेवकूफ़ हैं, औरतें गुलाम हैं, औरतें बदतहज़ीब और बेतमीज़ हैं—यानी दुनियामें सबसे खराब अगर है तो औरतें हैं। फिर, बन्दापरवर ! आप मर्द लोग, जो अपनी सफ़ाई, अक़्लमन्दी, बहादुरी और तहज़ीबके लिये मशहूर हैं, औरतोंको नेस्तो-नाबूद क्यों नहीं कर देते ? यही कीजिये और ज़रूर कीजिये। बड़ा सवाब होगा। दुनिया (अमेरिका, जापान, इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, चीन, तुर्की) औरतोंको आज़ादी दे रही है। हुज़ूरके मुल्कके मर्दोंको चाहिये कि दुनियाँके ख़िलाफ़ बग़ावत करें। औरतोंको जेलोंमें रखें। खाने न दें, देखने न दें, सुनने न दें, प्यार करने न दें और पढ़ने-लिखने तो ज़रूर न दें। अगर आपके मुल्कको 'बाग़े-अदन' और मर्दों को 'खुदा' कहा जाय तो बुरा न होगा। आप लोग हम औरतोंको समझा दीजिये कि इल्म ही वह 'फारबिडेन ट्री' है, जिसका फल खानेकी आज्ञा नहीं। औरतें भी, 'आदम' और 'ईव' की तरह, इल्मके पेड़के फल खाकर चौकन्नी हो जायँगी, होश में आ जायँगी। इसलिये जो

औरत आप (खुदाओं) की बात न माने उसे अपने 'सोशल-पैराडाइज' (सामाजिक-स्वर्ग) से निकाल बाहर कीजिये। मगर याद रहे, उनमें पहला नम्बर अपनी असग़रीका ही रखियेगा।

तुमने लिखा है—

"मैं मुसलमान हूं। खुदा-परस्त, इस्लाम-परस्त और मजहब, परस्त हूं। मैं इस बात को हर्गिज़ बर्दाश्त नहीं कर सकता कि मेरी बहन, किसी ग़ैर क़ौमवालेके साथ ब्याही जाय। मैं नर्गिस को जहर देकर मार डालूँगा; अपना गला घोटकर मर जाऊँगा; मगर, इस बेइज्जतीसे बचनेकी कोशिश करूँगा—बचूंगा।"

यह कैसी बातें हैं, मेरे मालिक! मैंने सुना था हाथियोंके खाने और दिखानेके दांत अलग-अलग होते हैं। मगर मुझे आजही मालूम हुआ, कि मर्दोंके दिल भी दो तरहके होते हैं। दिखानेके और, बहकानेके और। तुम मेरे आगे मुहब्बत-परस्त बनते हो और दूसरोंके आगे इस्लाम-परस्त या मजहब-परस्त! प्यारे! बुरा न मानना। क्या यह दुनिया को धोखा देना नहीं है? अपनेको ठगना नहीं है? तोबा, तोबा। तुमने यह ख़त नशे की हालतमें तो नहीं लिखा है? नर्गिस को जहर देकर मार डालोगे? क्यों?

उसी मुहब्बतके लिये, जिसे हम दुनियाकी सबसे बड़ी

नेयामत समझते हैं ? उसी मुहब्बतके लिये जिसे पाकर इन्सान इन्सान हुआ है। उसी मुहब्बत के लिये, जिसका नाम लेकर दुनिया अपना रास्ता तय कर रही है। उसी मुहब्बतके लिये जो खुदा है, दीन है, मजहब और क़ुरान पाक है। उसी मुहब्बतके लिये जिसकी तारीफ़ करते-करते हाफ़िज़ और सादी, खय्याम और मीर, ग़ालिब और ज़फ़र फ़रिश्तों की तरह मशहूर हो गये!

मुहब्बतके लिये खून ? मेरे राजा! तुम पागल तो नहीं हो गये हो ?

तुम्हीं सोचो; तुम मेरे सरपर हाथ रख कर कह सकते हो, कि मुहब्बत—क़ानूनसे धरमसे, मजहबसे, हिन्दूसे, मुसलमानसे, ईसाईसे, सिखसे, डरता है ? मुहब्बत दिल देखता है, मजहब नहीं, क़ानून नहीं हिन्दू नहीं, मुसलमान नहीं। मेरे खुदा, अगर तुम 'हिन्दू' भी होते, तो मेरे ही खुदा होते, मेरे ही मालिक होते, मेरे ही आक़ा होते! तुम अगर कल ईसाई हो जाओ, तो भी मैं तुम्हारी ही रहूंगी। तुम मेरी नजरोंमें वैसेही बने रहोगे जैसे हो। मजहब इस दुनियाकी चीज है, मुहब्बत उस दुनिया की। मजहब अगर सच्चा मजहब है, मुहब्बतके रास्तेका रोड़ा नहीं, फूल है।

प्यारे! आज तुम्हारे ही हथियारोंसे तुम्हें हराऊँगी। तुम्हीं से सुनी हुई बातें 'तुम्हारे खिलाफ़ तुम्हारे सामने रखूंगी। यह

तुम्हारा ही कहना है, कि "पहले हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या यहूदी कोई नहीं था। सभी आदमी थे, सभी खुदाके प्यारे बच्चे थे। फिर? सब लोग मिलकर फिरसे 'आदमी' क्यों नहीं बन जाते? क्या 'हिन्दू', 'मुसलमान' या 'ईसाई' 'यहूदी' के नामपर आदमियोंमें फूट डालनेवालोंपर खुदा खुश होगा? क्या यह अल्लाहुअकबर के खिलाफ़ बग़ावत नहीं हैं?

★ ★ ★ ★

अभी-अभी नर्गिसका एक ख़त आया है। उफ़! देखने लायक़ है। तुम देखो तो—क़सम तुम्हारे क़दमोंकी!—रो पड़ो। मेरी प्यारी जान उस 'काफ़िरके बच्चे' पर दीवानी हो गयी है। लिफ़ाफ़े पर आँसू, लेटर-पेपर पर आँसू, एक-एक लाइन पर आँसू! ख़तके साथ उन्होंने हिन्दी की कई ऐसी किताबें भी भेजी हैं, जो मुसलमानोंकी लिखी हुई हैं। कोई 'रहीम'की, कोई 'रसखान'की, कोई 'मुहम्मद जायसी'की, कोई 'नज़ीर'की और कोई 'कबीर' की। उन्होंने लिखा है, कि ये लोग मुसलमान होकर भी सच्चाईके पुजारी थे। हिन्दू-धरमकी ख़ूबियों के क़ायल थे। फिर, अगर मैंने किसी हिन्दूको प्यार किया, तो क्या बुरा किया! उनके ख़तका एक हिस्सा है—

"......औरत का दिल ऐसी चीज नहीं जिसे आज 'हिन्दू' और कल 'मुसलमान'को दिया जाय। सच्ची औरत अपना आक़ा, अपना मालिक, अपना खुदा एक बार चुनती है—हज़ार

बार नहीं। इसीलिये औरतें मर्दोंसे ऊँची हैं—माँ हैं। मुहब्बत करनेसे अगर कोई चिढ़ता है तो चिढ़ा करे। अगर 'यह जुर्म है' तो ऐसे गुनहगार बहुत हैं।' मैंने उन्हें 'अपना' मान लिया है। अब दुनियाकी कोई भी ताक़त हमें अलग नहीं कर सकती। मैं उनकी हूँ, वह मेरे हैं।

"तुमने लिखा है, भाई साहब नाराज होंगे। अब्बा तो गोली मार देनेको तैयार हो जायँगे। अच्छी बात है। ऐसाही होने दो। अब मैं कलकत्तेसे घर आती ही नहीं। तुम छोड़ दो, भाई छोड़ दें, अब्बा निकाल दें और अम्मी भी (जो कि गैर-मुमकिन है) भूल जायँ। मेरा भी खुदा है। मैंने तो यह तय कर लिया है, भीख माँगूँगी तो 'उन्हीं' के साथ और तख्तपर बैठूँगी तो 'उन्हीं' के साथ।...तुम जानती होगी, उनके साथ दुख उठाने में भी मजा मिलेगा—

ले कर सुघर खुरुपिया पियके साथ,
छइबे एक छतरिया बरसत पाथ।

★ ★ ★

टूट खाट, घर टपकत, टटियो टूट,
पियकै बाहँ उसिसवाँ सूखकै लूट।

"मैं 'रहीम'की इन लकीरों को चौबीस घंटेमें हजारबार खुदाके सामने रखकर दुआ माँगती हूँ—

चन्द हसीनों के खुतूत

मोहि बर जोग कन्हैया लागउँ पाय,

तुहुँ कुल-पूज देवता होहु सहाय।

मैंने जबसे उन्हें पहचाना, तबसे आजतक बराबर खुदासे, मजहबसे, दिलसे, 'उन्हीं'को माँगा करती थी। अब वह हजार कोहेनूरोंका एक कोहेनूर मुझे मिल गया है।

सब कुछ खुदासे माँग लिया 'उनको' माँग कर,

उठते नहीं हैं हाथ मेरे इस दुआके बाद।

मैं उनकी हूं, हजार बार उनकी हूं, हजारमें उनकी हूं।"

देखा तुमने ? यह मेरी बन्दिश नहीं, तुम्हारी बहन नर्गिसकी चिट्ठी है। उनके दिलमें वह मुहब्बत नहीं, जो दुनियावी दिक्कतों से घबरा उठे। उनका दिलोदिमाग भी उन्ही चीजोंसे बना है जिनसे तुम्हारा, फिर वह तुमसे कम हठीली कैसे हो सकती है ?

फिर आओ न —'माइ लव' ! हम लोग थोड़ी हिम्मतसे काम लें। एकबार जी कड़ाकर दुनियाके आगे एलान कर दें कि— "हमारा सबसे बड़ा मजहब प्रेम है, मुहब्बत है। हम मुहब्बतसे बढ़कर किसीको (खुदाको भी) नही मानते।" मुहब्बत दुनिया की रूह है। वह किसी खुदाका जल्वा नहीं, मसीहा 'मूसा'के दिल की मुहब्बत थी जो 'तूरपर' एकाएक उनकी आँखोंके आगे चमक गयी। मुहब्बतने मूसाको हजरत मूसा बनाया है। बिना मुहब्बत के खुदा, खुदा नहीं, मजाक़ रह जाता है। इसीसे तो हजारोंने कहा है (और मैं भी कह रही हूं) मुहब्बत ही खुदा है। दुनिया

को खूंरेज़ी, नफ़रत, दुश्मनी, नाइत्तेफ़ाक़ी और गुस्सेसे दूर रखने के लिये—खुदा के परदेमें—मुहब्बतही अपनी पूजा करा रही है। फिर हम मजहब, ज़ात, रंग और रिवाज़पर क्यों जायँ ? सीधे मुहब्बत—खुदाके खुदा—के पास क्यों न जायँ ? मुहब्बतका नाम लेकर ईसा मुस्कराता-मुस्कराता 'क्रूस' पर चढ़ गया था। मुहब्बत का नाम लेकर हज़रत मुहम्मदने इस्लामका झण्डा ऊँचा किया था। जहां तक मेरी ('यू'+'आई'='माइसेल्फ़') 'स्टडी' है, मैंने दुनियाके सभी बड़े 'आदमियोंको' मुहब्बत और सिर्फ़ मुहब्बतके नामके नारे बुलन्द करते पढ़ा है, सुना है—देखा-सुना है। 'बिंद्राबन' का 'किशन' मुहब्बत का पैग़ाम लेकर आया था, 'कपिलवस्तु' का 'गौतम' मुहब्बत का पैग़ाम लेकर आया था, (इसे पचासों बार तुमने खुद कहा है)। आजके (खूंरेज़ीके, नफ़रतके, डाकेके, लूटके) ज़मानेमें भी, इन्सान नामके 'जानवरों' के दिलोंका दिल, उन्हींको बड़ा आदमी मानता है जो मुहब्बतके नाम पर मरमिटे हैं या मर मिट रहे हैं। कार्ल मार्क्स-टालस्टाय-लेनिन, शेक्सपियर-सादी-तुलसी या कमाल-अब्दुलकरीम-जगलूलया (याद है ? जिनके नामपर बैरिस्टरी छोड़ने जा रहे थे ?) गान्धी। मैं संसारके सभी पैग़म्बरों और अवतारोंको—अधिकसे अधिक—'आदमी' समझती हूं। मूसा हों या ईसा, मुहम्मद हों या किशन, गौतम हों या मेज़िनी—सभी आदमी थे। 'आदमी'से बढ़कर कोई नहीं हो सकता है। मगर हाँ, सच्चा

'आदमी' होना बहुत दुश्वार है।

फिर आओ न मेरे मालिक! हम लोग एलान कर दें कि हम—"पहले 'आदमी' हैं, फिर हिन्दू या मुसलमान या कोई और।" आजकलकी दुनिया धरमसे, रिवाजसे, जातसे, गुट-बन्दीसे, गोरेसे, कालेसे, हिन्दूसे, मुसलमानसे घबरा गयी है। लोग जल्द ही आदमियोंके छुटकारेका कोई अच्छा रास्ता ढूँढ-निकालनेकी फिक्रमें हैं। आंखें रखकर अन्धा बनना ठीक नहीं। आओ, हम 'यूनिवर्सल ब्रदरहुड' फैलानेवालोंकी मदद करें। इससे खुदा (अगर वह है) ज्यादा खुश होगा।

मेरी प्यारी नर्गिस को सहारा दो। उसे दुनिया की झिड़कियों; लानत-मलामतों और फटकारोंसे बचाओ। उसके दिलमें खुदाके जल्वाकी तरह अगर मुहब्बत चमक रही है तो उसे चमकने दो और ऐसी पाक-मुहब्बतसे अन्धी दुनियाको आँखें पाने दो।

अब मुझसे ज्यादा बहस न करना। मैंने लण्डन जाकर बैरिस्टरी नहीं पास की है। इस इल्ममें (यानी बहसमें) तुम हमेशाके एक ही हो। मगर जहाँ 'दिलका' सवाल हो, वहां बहस करना कहां तक ठीक है; यह तुम जानते हो। इसीसे कहती हूँ।

एक बात और लिखकर खतको खत्म करती हूं। वह यह कि अब मैं तुम्हें छोड़कर अकेले यहाँ (लखनऊमें) नहीं रहना

चाहती। पटना में तुम्हारी बैरिस्टरी चले या न चले। मैं अपने दिलके खुदाको बैरिस्टरीके लिये नहीं छोड़ सकती। सीधेसे नहीं ले चलोगे तो एक दिन मिसेज ए० हुसेन खुद ही पटनामें दिखायी देंगी। पहाड़ मुहम्मदके पास नहीं आयेगा तो मुहम्मद खुद पहाड़के पास जायगा। समझे?

तुम्हारी ही

—असग़री

नोट—यह ख़त किसी मुल्ला, हाजी या मौलवी के हाथमें न पड़े—होशियार रहना! इस पर अख़बारवालों की नज़र न पड़े—ख़बरदार रहना!—'अ'...

(पता—)

पण्डित मुरारीकृष्ण शर्म्मा,

Room No. 36,

Calcutta College Hostel,

Calcutta.

लाठी-महाल,
कानपुर
३१ मार्च, १९२६

प्यारे मुरारी,

१९-११-२५ का लिखा और पोस्ट किया हुआ तुम्हारा पत्र तुम्हारे प्रियतमके हाथोंमें २८ मार्च सन् १९२६ को आया। इसमें न तो पत्रका दोष है, न मेरा और न तुम्हारा ही। सुना है तुम एक वर्ष से बराबर कलकत्तेमें हो, प्रयाग लौटे ही नहीं। मैं एक वर्षतक जेलमें था, दुनियामें था नहीं। जेल जानेके पूर्व एकबार जीमें आया था कि बहुत दिनोंसे खत-किताबत बन्द है तो क्या, इस जीवित-श्मशान-यात्राका संवाद तुम्हारे कानोंतक पहुंचा दूँ। मगर, फिर, कुछ सोचकर उस इच्छाका दमन ही करना उचित समझा। इसका एक कारण था। मैं जानता हूँ और तुम भी जानते हो, ऊपरसे शान्ति और प्रसन्नाकी मूर्ति बने रहते हुए भी तुम्हारे धनी-घरवाले, तुम्हारे 'समाज-सम्मानित'-घरवाले, तुम्हारे 'कैपिटलिस्ट'-घरवाले, यह नहीं चाहते कि उनका 'सोने' का अमीर मुरारी, 'मिट्टीके' गरीब गोविन्दसे—दूध-पानीकी तरह,

मिश्री-तृणकी तरह, पान-पत्तेकी तरह मिल जाय। तुम्हें याद होगा। असहयोग आंदोलनके समय जब हमतुम एक साथ बैठकर 'यंगइण्डिया' पढ़ा करते थे और महात्माजीके मतोंपर अपनी सम्मति दिया करते थे उस समय तुम्हारे 'रिटायर्ड डिप्टी कलेक्टर' बाबूजी कैसी कटूक्तियोंसे काम लेते थे। "सब ढोंग है। यह सब कुछ बिगड़े-दिमाग़ोंकी खराबी है। यह अंग्रेजी राज्य है। इसके खिलाफ़ होनेपर अच्छे-अच्छे रगड़ दिये जाते हैं। महात्मा गान्धी यह बुरी आग लगा रहे हैं। इसमें देशका सर्वनाश हो जायगा, कितने घर उजड़ जायंगे, कितने मर मिटेंगे। सब ढोंग है। जिसे कोई काम नहीं, वही लीडर है। जिसे कोई रोज़गार नहीं, वही व्याख्यान-बाजी करता है। अंग्रेजी राज्य राम-राज्य है। इसमें कोई दुःख नहीं, कोई तकलीफ़ नहीं!" आदि, आदि। ये बातें मुझे बहुत बुरी मालूम पड़ती थीं। साथ ही, तुम्हें भी कम बुरी नहीं मालूम पड़ती थीं। क्योंकि, 'मैं' 'तुम' था; 'तुम' 'मैं' थे। क्योंकि, मैं 'प्रियतम' था; तुम 'प्यारे' थे। क्योंकि, मैं प्रभात था; तुम बाला-रुण थे; क्योंकि, मैं मन्द-मलय-समीरण था; तुम कुसुमित-वसन्त थे; क्योंकि, मैं अधर था, तुम चुम्बन थे; क्योंकि, हम एक ही तरंगमें बहते थे, एकही स्वर में बोलते थे, एकही लयमें गाते थे, एक ही गतमें नाचते थे। तुम 'मैं' थे, मैं 'तुम' था। तुम्हारे रक्त और मांसके स्रष्टा, तुम्हारे रक्त और मांस के मालिक

तुम्हारे हृदयको भी—जबरदस्ती—अपनी मुट्ठीमें रखना चाहते थे। वह यह नहीं बर्दाश्त कर सकते थे कि उनके रचे हुए खिलौने को छातीसे लगाकर संसारका कोई अ-सुखी, अन-धन और अकिञ्चन भी अमरत्वका आनन्द ले।

प्यारे! तुम्हें याद होगा, (क्योंकि उस घटनाको तुम कभी भूलही नहीं सकते) हमारे उस सुख-स्वप्नको तुम्हारे पिताजीने तोड़ा था। उन्हें विश्वास हो गया था कि हम दोनों एक साथ रहेंगे तो 'गाँधीकी आँधीमें' बह जायेंगे। और उन्हींके शब्दों में—"गाँधीका अनुकरण करना मूर्खता है। हमें कमी किस बातकी है, जो हम अंग्रेजी राज्यका विरोध करें? जमीन्दार हम, धनी हम, विद्वान् हम, सरकार द्वारा सम्मानित हम। क्या स्वराज्यमें इनसे कुछ बहुत मीठे लड्डू मिलेंगे? यह सब बेवक़ूफ़ी है।" बस, एक दिन उन्होंने प्रयागके स्कूलसे तुम्हारा नाम कटाया और रातों-रात—उफ़! उफ़!!—तुम्हें हमारी नजरोंसे छीनकर ले भागे! और फिर, जबतक कि मैं स्वदेश-प्रेमके नामपर ६ महीनेके लिये जेलमें नहीं ठूँस दिया गया, तबतक वे बराबर तुम्हें 'गार्ड' करते रहे। पत्र तक नहीं लिखने देते थे; यह तुमने स्वयं लिखा था। अपने पिताकी उस कृत्तिसे तुम कितने दुःखित, लज्जित और क्षुब्ध हुए थे—याद है? तुम्हारा वह पत्र अभीतक मेरे पास है, जिसमें तुमने लिखा था—"प्रियतम" यदि मेरा वश चलता तो मैं प्राण छोड़ कर, उड़कर, तुमसे जेलमें मिलता। तुम

जेलमें निर्दोष होनेपर भी, पवित्र होनेपर भी, अनेक प्रकारके कष्ट उठा रहे हो और मैं यहाँ आनन्दसे जीवन व्यतीत कर रहा हूँ! मेरा तुममें, तुम्हारे पथमें, तुम्हारे उद्देश्यमें पूर्ण विश्वास है। मैं जानता और समझता हूं कि मेरे पूज्य-पिताजी तुच्छ मोह और स्वार्थके भ्रामिक पथ पर हैं और मुझे भी बरबस घसीट रहे हैं। पर सबकुछ जान कर भी कुछ नहीं कर सकता। मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि पिताजीका खुले शब्दोंमें विरोध करूँ। हजार सुख होते हुए भी मैं उनके भयानक क्रोधमें पला हूं। मेरे हृदयपर भयसे शासन करते-करते मेरे शासक (डिप्टी कलेक्टर), पिताजीने मुझे कायर बना दिया है। मैं नीच हूँ, मैं अधम हूं, मैं कायर हूँ। मैं तुम्हारा—अपने प्राणोंके प्राण का—विपत्तिमें साथ नहीं दे सकता। पिताजी नहीं रहते, तो सब कुछ सोचता हूं। यह भी निश्चय करता हूं और वह भी। मगर, उनकी आँखें ज्योंही मेरी आँखोंसे मिलती हैं, मैं सत्य-पथसे विचलित हो जाता हूं। यद्यपि यह कहनेके लिये तुम मुझ पर अनेक बार नाराज हो चुके हो, मुझे प्रेम-पूर्ण दण्ड भी दे चुके हो; मगर, मैं पुनः यही कहता हूं कि मैं अपने पिताजीको प्रेमसे नहीं, भयसे देखता हूं। वह पहले डिप्टी कलेक्टर हैं, फिर पिता! वह पहले शासक हैं, फिर देवता! मैं ईश्वरसे नित्य यही प्रार्थना किया करता हूँ कि वह मुझे वह शक्ति प्रदान करे जिससे मैं निर्भय होकर, आवश्यकता पड़ने पर, अपने पूज्य-पिताका सादर-विरोध कर सकूँ।

तुम्हारे प्रेमकी दुहाई, जिस दिन मुझमें इतनी शक्ति आ जायगी, उस दिन मैं अपने को धन्य समझूँगा। और फिर, जीवनमें, मरणमें, बिहारमें, रणमें, सम्पत्तिमें, विपत्तिमें, जेलखाने में और फाँसी घरमें, कहीं भी तुम्हारी छाया न छोड़ूंगा। आज भी मेरे हृदयकी पवित्रताके स्रष्टा तुम्हीं हो; आज भी मेरी हृदय-गंगाके हिमाचल तुम्हीं हो।"

मुझे तुम्हारे पत्रका यह अंश बहुत अच्छी तरह याद था, इसलिये और—मैंने तुम्हें अपनी 'लेटेस्ट' जेल-यात्राकी सूचना नहीं दी। सोचा, कहीं तुम अपने पितासे विद्रोह कर बैठो और हमारे नेतृत्वमें आ रहो, तो और भी मुश्किल हो जाय। ज़रा आँखें खुलनेपर मालूम होता है कि दुनिया ठीक वैसी ही नहीं है जैसी हम सोचा करते थे। यह तो बड़ा भयानक रास्ता मालूम पड़ता है भाई! इस पथपर ऐसा कोई पथिक नहीं, जिसके पाँव न थर्राते हों। चारों ओर हाय-हाय-हाय-हाय! कर तो डर, न कर तो भी डर। झूट बोलना भी पाप, और सच बोलना भी पाप। सज्जन होना, उदार होना, सहृदय, मनुष्य होना तो महा-पाप है! भला बताओ, ऐसी धोकेबाज और बेईमान दुनियामें तुम्हारे ऐसे रत्नको लेकर अपने हाथोंमें उछालता हुआ, कौन चल सकता है? कोई लूट ले, कोई छीन ले?

तुम्हारा पत्र चार महीने बाद मिला था। बीचमें क्या घट-नाएँ हुईं, तुम्हारा और तुम्हारी 'स्टूडेण्टा' महोदयाका क्या हुआ,

मुझे खबर नहीं। मैंने सोचा कि सबसे पहले प्रयाग—तुम्हारे घरपर ही जाना ठीक होगा। बहुत दिन हो भी गये; एक बार सब आदमियोंको और सब स्थानोंको भर आँख प्रेमसे देख भी लूंगा। यह भी आशा थी, कि सम्भव है 'तू भी मिल जाय' और इस आशाके साथ अनेक उप-आशाएँ भी थीं। मगर वहाँ पहुँचनेपर कुछ विशेष बात नहीं मालूम हुई। मालूम हुआ, कि तुम आजकल 'अपने मन' के हुए जा रहे हो। सालोंसे घर नहीं आते, महीनों तक पत्र नहीं लिखते। लिखते भी हो, तो केवल रुपयोंके लिये। जिस समय मुझसे और तुम्हारे पिताजीसे बातें हो रही थीं उस समय 'मां' भी वहीं थीं। तुम्हारी चर्चा चलनेपर उन्होंने कहा—

'बड़े', वह तो हम लोगोंको बिलकुल भूल-सा गया है। एक सालसे ऊपर हो चला, वह माँको एकबार भी देखने नहीं आया। मैं 'छोटे' को ऐसा निर्दयी नहीं समझती थी। मैंने इनसे (तुम्हारे पिताजीकी ओर देखकर) हजार बार कहा कि छोटेको यहीं बुला लें। अब उसे कालेजसे अलग कर दें। समझा-बुझाकर ब्याह दें। ज्यादा पढ़-पढ़कर वह बे-हाथ हुआ जा रहा है। वही हमारे बुढ़ापे की लकड़ी है। वही हमारे धन-धान्यकी श्री है, वही हमारा स्वर्ग है। दशमी बीत गयी, दीवाली बीत गयी, और मेरे बच्चेने मेरे हाथसे दूध का कटोरा नहीं लिया। अब क्या फिर जनम लेना है? अब क्या फिर-फिर पुत्र-मुख पाना है?

चन्द हसीनो के खुतूत

क्षण भरके लिये रुककर और तुम्हारे पिताजीके मुखकी ओर प्रश्न-वाचक दृष्टिसे देखकर उन्होंने फिर आरम्भ किया—

"यह 'छोटे' को भी डिप्टी कलेक्टर बनानेकी धुनमें है। माँकी गोदसे फूलकी तरह सुन्दर बच्चेको छीनकर पुरुष अपने इच्छानुसार रंगमें उसे रंगता है। अपने साँचेमें ढालता है। और माँ, खड़ी, दूरसे टुकुर-टुकुर ताका करती है। मानों बच्चेसे उसका कोई रिश्ता ही नहीं है। मैं नहीं चाहती, कि मेरा 'छोटे' इतनी सम्पत्तिके होते भी, किसीकी गुलामी करे। हमारे कोई और भी है? मगर, इन्होंने कभी किसीकी सुनी? यह तो उसे डिप्टी कलेक्टर बनाकर ही दम लेंगे। मैं चाहे जीऊँ या मरूँ; मेरा लाल देशमें रहे या परदेशमें रहे।"

तुम्हारी माँकी आँखोंमें आँसू आ गये और पिताजीका मुख रूक्ष हो गया। उन्होंने माँसे कहा—"आँसू निकल आये न? मैं कहता हूं चुप रहो! मोहसे, नर्मीसे या माताके हृदयसे दुनिया नहीं चल सकती। दुनियामें पत्थरकी तरह घिस जानेके बाद 'शालिग्राम' बननेकी बारी आती है। कुलीकी तरह खटनेपर पेट भर भोजन मिलता है। डिप्टी कलेक्टरी कुछ जहर नहीं है। उसी के प्रतापसे आज इतनी मान-मर्यादा है। मैंने अगर 'छोटे' को डिप्टी कलेक्टरीके पथपर न लगाया होता, तो वह भी आज तुम्हारे इन (मेरी ओर इशारा कर) 'बड़े' की तरह, घरका न घाटका होता। कहीं लेक्चर देता होता और कहीं 'मुठिया'

तहसीलता होता। कहीं अदालतमें दिखायी पड़ता, कहीं जेलमें तुम केवल प्रेम दिखाना और आंसू बहाना जानती हो। मगर, दुनिया केवल प्रेम और आंसू ही नहीं है।"

मांने, पिताजीकी बात का विषय बदलना चाहा। उस समय उनकी आंखें पुकार रही थीं कि, 'छोटे' के विषयपर पति और पत्नीका मत एक होना असम्भव है। उन्होंने फिर मुझ से कहा—

"बड़े, तू अपना व्याह क्यों नहीं करता? एकबार जेल गया, दो बार गया, अब कब तक देश और गांधीजीके नामपर संसारी बातोंसे अलग रहेगा? पिछली बार जब 'छोटे' आया था तब उससे भी यही कहा था कि 'देख मेरी चलती तो अबतक मेरी पतोहू घरमें आ गयी होती। व्याहकी उम्र बीती जा रही है। अब लड़कपन न कर।' इसका उसने जवाब दिया कि पहले 'बड़े' को कहो कि वह अपनी शादी करे, फिर मुझसे कहना। 'बड़े' को तुम अपना लड़का नहीं समझती? 'बड़े' आदमी नहीं है? जबतक वह व्याह नहीं करता तबतक मैं भी नहीं करूंगा।"

मैंने कहा—"मां, मैं तो अपना व्याह जरूर करूंगा, मगर वैसे व्याहसे तुम या तुम्हारे समाज वाले नाराज ही अधिक होंगे।"

क्यों? क्यों? व्याह होगा तुम्हारा और नाराज होंगे समाजवाले—क्यों?

तुम्हाहरे पिताजीने पूछा।

"समाज इसलिये नाराज़ होगा," मैंने मुस्कराते हुए उत्तर दिया "कि मैं उसके नहीं, अपने इच्छानुसार अपना व्याह करूंगा। इच्छा होगी कुमारीसे, इच्छा होगी विधवासे। जीमें आयेगा ब्राह्मण-बालिकाका पाणि-ग्रहण करूंगा; जीमें आयेगा किसी विजातिनी या विदेशिनीका। फिर तुम्हीं बताओ मां! इस व्यापारसे तुम प्रसन्न होगी? समाज खुश होगा?"

"यह भी कोई व्यापार है?" तुम्हारे पिताजी पुनः रूखे पड़े— "उच्छृङ्खलताको तुम 'व्यापार' कहते हो? यह तो समाजका और उसके नियमों का सरासर अपमान करना है। समाजकी आज्ञा बिना विधवा-विवाह या असवर्ण-विवाह प्रचलित करना महा-मूर्खता है। कमसे कम ऐसी कल्पना कोई समझदार आदमी तो नहीं कर सकता।"

मैंने कहा—"क्षमा कीजियेगा। अगर मैं किसी मुसलमानिन से अपना विवाह करूँ, तो आपको मुझसे सम्पर्क रखनेमें कोई आपत्ति तो न होगी?"

"मुसलमानिनसे??" भवों पर बल देकर उन्होंने कहा— "तुम तो तुम्हीं अगर मेरा ख़ास लड़का भी ऐसा दुष्टाचरण करे, तो मैं उसे घरसे बाहर निकाल दूँ। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं सना-तनी हूँ, इस नये युगके क्षणिक और अशुद्ध प्रवाहमें मैं, प्राण खोकर भी अपनी पवित्र धाराको नहीं मिला सकता। महाशयजी,

बाबू साहब, भैयाजी, अभी देशमें इस मतका प्रचार नहीं होगा—नहीं होगा—नहीं होगा।

★ ★ ★ ★

यह तुम्हारे पिताजीकी राय है। और मेरा दृढ़ विश्वास है कि वे अपने विश्वास पर दृढ़ हैं। अब तुम पूछ सकते हो कि "तुम्हारी क्या सम्मत्ति है ?" इस प्रश्न का उत्तर हम तुमसे मिलकर ही दे सकते हैं। तुम्हारी प्रकृति और तुम्हारी परिस्थिति पर विचार करने से मैं तो यही सोचने लगता हूं कि—

यह भी मुश्किल है वह भी मुश्किल है
सर झुकाए गुजर करें क्यों कर।

मेरा कलकत्ता आनेका इरादा पक्का है। मगर, तुमने 'धरम' लेने और 'चूमने' का निमन्त्रण दिया है। इस निमन्त्रणके लिये तैयार होकर आना होगा। अभी बीबी नौकरशाहीके मायकेसे आ रहा हूँ। दाढ़ी रासपुटिनकी तरह बढ़ी हुई है। सरके बाल जटाधारीकी सम्पत्ति हो रहे हैं। तुम भावुक ठहरे, सौंदर्योपासक ठहरे, 'नर्गिस'-वल्लभ ठहरे—मेरी लम्बी दाढ़ीको कैसे अपनाओगे ? इसीलिये जल्दसे जल्द थोड़ा-बहुत 'चिकना' होकर तुम्हारी भुजाओं में आ रहा हूं।

सम्भवतः ७-८ अप्रैल तक आऊँगा। मगर, एक शर्त है। एक दिन तुम्हें उनको जरूर दिखलाना पड़ेगा जिनकी आंखें ठीक

वैसी हैं जैसी मेरी और जो तुम्हारी नजरों में मेरी बहन की तरह हैं। आशा है, कलकत्ता आने पर तुम्हें 'स-चुण्डी' और 'स-धोती' देखूंगा; 'अ-चुण्डी' और 'स-लुंगी' नहीं।

तुम्हारा ही प्यारे
श्रीगोविन्दहरि शर्मा

(पता—)

मेरे मुरारीकृष्ण,

Room No. 36,

Calcutta College Hostel.

Calcutta.

जकरिया स्ट्रीट
कलकत्ता
(बारह बजे रात)

क्या क्या लक़ब हैं शौक़के आलममें यारके,
काबा लिखूँ कि, क़िब्ला लिखूँ या खुदा लिखूँ।

वाह वाह वाह वाह ! तीस बार सूरज निकला और डूब गया ; लम्बे-लम्बे दिन चमके और स्याह पड़ गये ; बड़ी-बड़ी रातें आयीं और चली गयीं ; मगर तुमने एक पुर्जा तक नहीं भेजा ! इसी बीचमें मैंने दो खत तुम्हारे नाम कलकत्ता-कालेज-होस्टलके पतेसे भेजे, मगर; कोई नतीजा नहीं। तुम तो ऐसे नहीं थे। मेरे दिल ! मुझे माफ करना, क्या पत्थर-परस्त पूरे पत्थरही होते हैं ?

तुम दे जानेको थे, रामायण की एक अच्छी कापी; क्यों नहीं दे गये ? मेरे पढ़ लेनेके बाद—तुम ले जानेको थे, प्रेमचन्द का 'सेवासदन', मैथिलीशरणकी 'भारत भारती' और चतुरसेन शास्त्रीका 'अन्तस्तल;' क्यों नहीं ले गये ? हफ्तोंसे ये किताबें

मेरी मेजकी छातीपर सवार हैं। मैं तुम्हारी हूं, मेरी मेज तुम्हारी नहीं है। उस 'अनबोलती और अबला' पर ऐसा जुल्म क्यों कर रहे हो? तुमने कहा था कि..."१५ मईको तुम्हारा हिन्दीमें इम्तेहान लूंगा। देखूंगा ६ महीनेमें तुम उसे कितना समझ सकी हो।" फिर? क्या हुआ उस इम्तेहानका? क्यों नहीं आये! बेरहम, तुम क्या जानोगे कि तुम्हारे इम्तेहानमें 'पास' होनेके लिये मैंने कितनी मिहनत, कितनी दिलचस्पी और कितनी कोशिशोंसे हिन्दी पढ़ी है। सैकड़ों किताबें फाँक गयी। पचासों कापियाँ रँग डालीं। पूरी 'विदुषी एण्ड विशारदा' की लियाक़त हासिल कर ली। मगर, तुम न आये—न आये! इसका क्या मतलब है? क्या तुम चाहते हो कि तुम्हारी बाँदी नर्गिस भी, 'मीरा' की तरह एकतारा हाथमें लेकर 'मुरारी' के पीछे धूनी रमा दे? 'और मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरो न कोई' की तानसे जमीन और आसमानको दहला दे? ऐसा भूलकर भी न सोचना। किताबोंकी मीराने 'कालेज' में 'इङ्गलिश' नहीं पढ़ी थी और तुम्हारी 'नर्गिस' ने पढ़ा है। वह तो जरूरत पड़ने पर, मुहब्बत से मुस्कुराकर कह देगी कि—"मधुकर, हम न होंहि वह बेली!"

अच्छा, अब जरूरी बातें सुनो। मैं कलसे 'जकरिया स्ट्रीट' में अपने अब्बाके एक दोस्तके घरमें आ गयी हूँ। इधर दो-तीन दिनोंमें दो-तीन बातें बड़े मार्केकी हुई हैं। जिनमें पहली बात

यह है कि वह 'याक़ूबका बच्चा' (अब मैं उसे इसी नामसे पुकारूंगी) परसों फिर मुझसे मिलनेके लिये होस्टलमें आया था। वही शामका वक्त था जिस वक्त तुम पहली बार मेरे हुए थे। मैं तुम्हारे ही इन्तजार में होस्टल-गेटके सामने वाले बागीचे में टहल रही थी और क्या जाने किस-किस उधेड़-बुन में मशगूल थी। एकाएक फाटक पर बाइसिकिलकी घण्टीकी आवाज सुनायी पड़ी। मैं सिहर उठी। आंखें भर आयीं, चेहरेपर खून दौड़ने लगा। दिलने सोचा 'तुम आये!' मगर कहाँ? बाइसिकिल वाले पर नज़र पड़ते ही दिलकी मुहब्बतने नफ़रतका जामा पहन लिया। वह याक़ूब था!

"आपको मेरी उस दिनकी बातें याद नहीं रहीं न? आपने अभी उस काफ़िरसे अपनेको अलग नहीं किया—क्यों?"

मुझे बड़ा गुस्सा आया। मैंने तीखी आवाज से उससे सवाल किया—

"आप किस हैसियतसे यहाँ बराबर तशरीफ ले आते हैं? किसके 'परमिशन' से?"

"'परमिशन' और हैसियत?" उसने मुँह बिगाड़कर जवाब दिया—"मैं उसीके 'परमिशन' से आता हूं जिससे मुरारीकृष्ण आता है। रही हैसियत की बात, सो क्या आपकी नज़रोंमें एक शरीफ़ और पढ़े-लिखे मुसलमानकी हैसियत या इज्ज़त उतनी भी नहीं जितनी एक काफ़िर की?"

"बस खत्म कीजिए," मैंने कहा "आपकी ये बातें मैं नहीं सुनना चाहती—नहीं सुन सकती। आप मेरे मालिक नहीं गार्जियन नहीं। फिर मैं अपने मालिक, गार्जियन और ख़ुदा की बातें भी 'उनके' खिलाफ़ नहीं सुन सकती। आप मेरी भलाई के ख्वाहाँ हैं, मैं शुक्रिया अदा करती हूँ। बस, अब आप तशरीफ़ ले जायं।"

उसने कहा—"नर्गिस !"

मैंने कहा—"चुप रहिये ! मेरी मर्ज़ीके ख़िलाफ़ मेरा नाम लेकर इस तरह पुकारते हुए 'एक शरीफ़ और पढ़े-लिखे मुसलमान' को शर्म आनी चाहिये।"

उसने कहा—"ऐसी बे-वफ़ाई ठीक नहीं। मेरी हालतपर रहम करो। मैं ख़ुदाकी क़सम खाकर कहता हूँ नर्गिस, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।"

"हा हा हा हा !" मैं हँसी—

कैसा वफ़ा, कहाँ की मुहब्बत, किधर का मेह्र
वाकिफ़ ही तू नहीं है कि होता है प्यार क्या ?

"प्यार धमकाता नहीं। प्यार किसी के रास्ते का काँटा भी नही बनता और न बेशर्म ही होता है। मियाँ, तुम क्या जानो प्यार क्या है ?"

उसने कहा—मेरा प्यार मुसलमानका प्यार है। हिन्दूका प्यार बरफ़की तरह ठण्डा होता है, मेरा प्यार आगकी तरह धधकता

हुआ है।"

"आग लगे ऐसे प्यारकी आगमें" मैंने गुस्सेसे कहा—"अब आप अपनी प्यारकी आगको मेरी आँखोंसे दूर ले जाइये। मुझे ज्यादा जलाइये नहीं।"

उसने कहा—"तुम आगसे खेल रही हो?"

मैंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। आँखें फेर लीं।

"क़सम खुदा की" नाक फुलाकर और मुंह लालकर उसने कहा—"चाहे मेरी जान चली जाय, मगर, मैं तुम्हें उस हिन्दू बच्चेके साथ हँसते देखना मंजूर नहीं करूँगा। याद रखो! अगर इस मामलेमें तुम नादानी और नासमझीसे काम लोगी तो पछताओगी। खून हो जायगा।"

वह बकता ही रहा और मैं होस्टल की ओर लौटी। दिलमें आया कि उसी वक्त एक तार देकर तुम्हें फटकारूँ कि तुम इस याक़ूबके बच्चेसे मुझे बचाते क्यों नहीं? मगर फ़टकारती किस बूतेपर? तुमने तो महीने भरसे मेरी खबर तक न ली। एक बार सोचा—इसी वक्त कलकत्ता-कालेज-होस्टल में जाकर तुम्हें ढूंढूं। मगर, फिर तुम्हारी बातें याद आयीं। तुमने होस्टलमें न आनेके लिये मुझसे वादा करा लिया है। तुमने कहा था कि—"कालेज-होस्टलोंके निन्नानबे-फ़ी-सदी युवक इस योग्य नहीं होते कि शरीफ़ औरतें उनके बीच में घूम-फिर सकें।" लाचार, मैं झखमार कर अपने रूममें पड़ रही। मगर फिर भी

चैन न पड़ा। तुम बहुत याद आये—बहुत याद आये। प्यारे, क्या दिलकी इसी कचोट का नामही मुहब्बत है ? क्या मुहब्बत-के नाम 'लम्बी साँसे' 'आँसू' और 'बेकल-करवटें' हैं। आह…

न था मालूम उलफ़तमें कि ग़म खाना भी होता है,
'जिगरकी बेकसी औ' दिलका घबराना भी होता हैं।
सिसकना, आह करना, अश्क भर लाना भी होता है,
तड़पना, लोटना, बेताब हो जाना भी होता है।

यही सब सोचते-सोचते मेरी आँखें लग गयीं। इसके बाद किसीने खानेके लिये जगाया था ऐसा याद आता है, मगर मैं खाता क्या। मेरी भूख तो महीनेभरसे न जाने कहाँ ग़ायब हो गई है।

दूसरे दिन सुबह किसीने खबर दी कि कामन-रूममें बैठकर कोई शख्स मेरा इन्तजार कर रहा है। मैं घबरायी। खुदा खैर करे! आज सुबहसे ही किसने धरना दिया है। वहाँ जाने पर देखा, इन्तजार करनेवाले शख्स मेरे अब्बा जान थे। उन्हें एकाएक कलकत्तेमें और सवेरे-सवेरे अपने होस्टलमें देखकर मेरे फरिश्ते कूच कर गये। देखनेके साथही हजार तरहके खया-लात माथेमें चक्कर काटने लगे।

"नर्गिस !"

"अब्बा,"

"मुझे इस तरह एकाएक अपने सामने देखकर तू तअ-

ज्जुबमें आ गयी होगी ?"

मैं चुप रही।

"मैं," अब्बा बोले 'तुझे लखनऊ ले जानेके लिये आया हूँ। आजही दोपहरकी गाड़ीसे चलना होगा।"

मेरे चेहरेपर हवाइयाँ उड़ने लगीं, छाती धड़कने लगी, आंखोंके सामने अन्धेरा-सा दिखायी पड़ने लगा। अब्बासे भाभीने सारी बातें बता दीं ? जरूर ऐसा ही हुआ होगा। नहीं तो ये इस तरह कलकत्ते कभी न आते। अब इनसे कैसे बातें करूँ ? क्या कहूँ, क्या न कहूँ ? अब्बाकी गैरहाजिरीमें मैं अपने दिलको जितना मजबूत समझती थी उनका सामना होते ही वह सब मजबूती काफूर हो गयी। थोड़ी देरके लिये मेरी दुनियामें केवल दो आदमी रह गये। एक गुस्सावर, संगदिल और जबरदस्त अब्बा और दूसरी उनकी सूरत और आँखोंसे काँपने वाली मैं। मुझे ऐसा मालूम पड़ा कि मैं बेहोश होकर गिर पड़ूँगी। मगर, उसी वक्त तुम्हारी हँसती हुई तस्वीर मेरी आखों के सामने फिर गयी। मैं सँभल गयी। मुझे मालूम पड़ने लगा कि तुम्हारी मुस्कराहटके सामने अकेले अब्बा तो क्या सारी खुदाईका गुस्सा भी कोई चीज नहीं।

अब्बाने कहा—"चुप क्यों खड़ी हो, चलनेकी तैयारी करो। मैं अभी तुम्हारी वार्डेनसे भी बातें करता हूँ। अब तुम्हारी पढ़ाई खत्म हो गयी।"

"क्यों ?" मैंने पूछा।

"यों ही। मैं यही मुनासिब समझता हूँ।"

मैंने अपने जिस्मकी तमाम ताक़त जबानमें एकट्ठी कर उनसे कहा—

"अब्बा, मैं तो अभी पढ़ूँगी।"

"अच्छी बात है, पढ़ना। मगर कलकत्तेमें नहीं, घरपर। किसी मेमको ठीक कर दूँगा।"

मैंने कहा—"मैं यहीं रहकर पढ़ना चाहती हूँ।"

अब्बाने कड़ी आवाजसे जवाब दिया—"अब यह ग़ैरमुमकिन है। मैं इस बात पर ज्यादा बहस नहीं करना चाहता, पर यह कहे देता हूँ कि मुझे तुम्हारी रत्ती-रत्तीकी खबर है। मेरी बातोंका मतलब अगर और साफ़ समझना हो, तो लो—देखो।"

अब्बाने एक लिफ़ाफ़ा मेरे सामने फेंका। उसमेंका खत निकालकर मैंने पढ़ा। वह याक़ूबका लिखा हुआ था। उस शैतानने 'हमारी बातों' में खूब नमक-मिर्च लगाकर मेरे अब्बाको लिखा था कि अगर आप जल्दीही कोई तरकीब नहीं सोचेंगे तो आपकी बड़ी बदनामी होगी। और आपकी लड़की एक काफ़िरके साथ निकल जायगी।

"खतकी बातें ग़लत हैं ?" अब्बा ने जवाब माँगा।

मैंने भी मज़बूतीसे जवाब दिया—"नहीं।"

"इसीलिये मैं तुम्हें यहाँसे घर ले जानेको आया हूँ।"

"माफ़ करना अब्बा" मैंने कहा—"इसीलिये मैं यहांसे घर नहीं जाना चाहती, नहीं जाऊँगी। मैंने तय कर लिया है।"

"क्या तय कर लिया है?" गरज कर अब्बाने पूछा।

"यही कि मैं उन्हींसे... ।"

"बे-शर्म, बेवक़ूफ़! तूने मेरे खान्दानमें धब्बा लगाया है।"

"मुहब्बत का नाम 'धब्बा' नहीं है अब्बा।"

"वह काफ़िर है, हम मुसलमान हैं। वह हज़ार भला होनेपर भी हमारे लिये बुरा है।"

"वह आदमी है, हम आदमी हैं। हममें न कोई काफ़िर है और न कोई मुसलमान।"

मेरी बातों से वे बहुत नाराज़ हो गये। उनकी आँखें लाल हो गयीं, सरके बाल खड़े हो गये। वे कमरेमें धम्म-धम्म पैर पटक कर टहलने लगे।

"तू अन्धी है नर्गिस।"

"आजकी दुनियाकी आंखोंसे देखनेसे अन्धी रहनाही अच्छा है। वे आंखें किस कामकी जो आदमीको नफ़रत, बुग़्ज़ और कीनेकी शक्लमें देखे। मैं तो सीधी-सीधी बात जानती हूँ। दुनिया खुदाकी है, शेख़ खुदाके हैं, बिरहमन खुदाके हैं, काफ़िर खुदाका है और मुसलमान भी खुदाका है।"

अब्बा चुप रहे। कुछ सोचते और टहलते रहे। इसके बाद कहने लगे—

"मैं सूफ़ी साहबके यहाँ ठहरा हूँ। आज वहाँ एक मजहबी जलसा है। हमारा वहाँ रहना बहुत जरूरी है। उन्होंने तुम्हें भी बुलाया है। चलो, टैक्सी खड़ी है।

मैंने कहा—"अभी कपड़े पहनकर आती हूं।"

टैक्सी पर बैठने पर अब्बा ने कहा—"नर्गिस, अगर मैं इसी वक्त तुझे लेकर स्टेशन चला चलूँ तो?"

मैंने कुर्तीके जेबसे एक डिबिया निकाल कर उन्हें दिखलाया—

"यही मुझे लखनऊ जाने से बचायेगी।"

"इसमें क्या है?"

मैंने अपने होशमें अब्बाके सामने पहली बार मुस्कराकर कहा—

"जहर!"

★ ★ ★ ★

सूफी साहब बड़े नेक आदमी हैं। सिर्फ कलकत्तेमें ही नहीं हमारे 'प्राविन्स' में भी इनकी इज्जत है। मैं इन्हें बचपनसे ही जानती हूं। ये सालमें एक बार हमारे यहाँ जरूर आते हैं। सूफी साहबके हजारों मुरीद हैं। उनकी आमदनी भी कई हजार की सालाना है। मगर उनकी आमदनीका एक-एक पैसा ग़रीब और मुफ़लिस यतीम और बेवाके पेटमें जाता है। वे यहाँ जकरिया स्ट्रीटके...नम्बरके मकान में रहते हैं!

चन्द हसीनों के खुतूत

जिस वक्त टैक्सी उनके दरवाजे पर पहुँची, अन्दर घरमें कव्वाली हो रही थी। कई मुसलमान ताली बजा-बजा कर गा रहे थे। बाहरसे ही साफ़ मालूम पड़ता था कि पहले सूफ़ी साहब अकेले गाते थे; बादको बाकी लोग एक साथ। टैक्सीसे उतरकर हम मकान में घुसे। मगर थोड़ी ही दूर चलने पर मैंने अब्बाको रोका—

"थोड़ी देर ठहर जाइये, यह कव्वाली खत्म हो ले तब चलियेगा। नहीं तो सूफ़ी साहबकी मस्ती का तार टूट जायगा।"

अब्बा घरके भीतरी बरामदे में रुक गये। गाने वालोंका गाना चलता रहा—

बुतमें भी तेरा या रब,
जल्वा नज़र आता है।
बुत-खाने के पर्दें में,
काबा नज़र आता है।

ओहो हो! कैसे मौकेसे हम लोग पहुँचे थे। कैसा मौकेका गाना था। पहला शेर सुनते ही मैंने अब्बासे कहा—

"अब्बा, सुनते हैं?"

अब्बा दाढ़ी पर हाथ फेरकर 'सीरियस' हो गये। गानेवाले आगे बढ़े—

दिल और कहीं ले चल
ये देरोहरम छूटे
इन दोनों मकानोंमें
झगड़ा नज़र आता है।

मेरी आँखें भर आयीं, गला भर आया। ऐसी लकीरोंका लिखनेवाला शायर था या खुदा? मैंने फिर अब्बाकी ओर देखा। मगर उनकी आँखें बन्द थीं। वे खम्बेसे टिके हुए न जाने क्या सोच रहे थे।

माशूक़का रुतबा तो
महशर में कोई देखे,
अल्लाह भी मजनूँ को
लैला नज़र आता है।
इक क़तरए मैं जबसे
साक़ीने पिलाया है,
उस रोज़से हर क़तरा
दरिया नज़र आता है।

"अब्बा!"

"चुप रहो!—चुप रहो!!"

साक़ीकी मुहब्बत में
दिल साफ़ हुआ इतना,

जब सरको झुकाता हू
शीशा नज़र आता है।
बुतख़ानेके पर्देमें काबा नज़र आता है।

गाना ख़त्म हो जानेके बाद मेरे सरपर हाथ फेरते हुए अब्बाने कहा—

"नर्गिस, तू ठीक कहती है। मेरा दिल कह रहा है, तू ठीक कहती है। मैं अबतक उसे और तुझे धोका देने और दुनिया को खुश करने की कोशिश कर रहा था। मगर, इस वक्त कव्वालीके बहाने अल्लाहने मेरे मुँह पर थप्पड़ मारे हैं। बेशक—इन दोनों मकानोंमें झगड़ा नज़र आता है। बेशक, बेशक ! मेरे बाल पक गये, मेरी आँखें कमज़ोर हो गयीं, मैं चन्द दिनोंका मिहमान इस सच्चाई को क्यों छिपाऊँ ?"

"अब्बा, अब्बा !" मैं उनके क़दमों पर गिर पड़ी—"मेरे अब्बा, मेरे अच्छे अब्बा !"

"तू न रो—तू न रो बेटी ! रोना मुझे चाहिये—रोना मुझे चाहिये। ग़लत रास्ते पर मैं था, मैं हूँ, मैं आज से नहीं, तेरी पैदाइशके पहले से ही यही सोच रहा हूं कि 'बुतख़ानेके पर्देमें काबा नज़र आता है।' इसमें तेरा कोई कुसूर नहीं। तू मेरे दिलकी तस्वीर ही तो है ? इसमें तेरा कोई कुसूर नहीं।"

उसी वक्त सूफ़ी साहबके पीछे १५-२० आदमियों की भीड़

मकानसे बाहर आता दिखाई पड़ी। उन आदमियों में 'याकूब का बच्चा' भी था। उसकी ओर नफ़रतसे इशारा कर मैंने अब्बासे कहा—

"अब्बा यही वह साहब हैं जिनका ख़त सुबह आपने मुझे दिखाया था।"

याकूबने अब्बाको सलाम किया।

उसे दुआ देकर हाथ मिलाते हुए अब्बाने कहा—

"भाई, मैं तुम्हारे अहसानोंके बोझसे दबा हूं। तुमने यहाँ बुलाकर मेरी आँखें खोल दीं। अब मुझे पूरा एतबार हो गया कि बुतखानेके पर्देमें काबा नजर आता है।"

उस याकूब की समझ में कुछ भी न आया। वह भौचक्का सा होकर अब्बा का संजीदा और मेरा खुश चेहरा देखने लगा।

उफ़, माई डीयर! ख़त बेतरह लम्बा हुआ जा रहा है। बारह बजे रातसे लिखने बैठी हूं, और ताकमें रखी हुई सूफ़ी साहब की 'टाइमपीस' पौने चार की ओर इशारा कर रही है। इस वक्त भी मेरी आँखोंमें तुम्हीं हो, इसमें कोई शक नहीं, मगर तुम्हारी मस्ती नींद से भी बढ़ी हुई है। सुबह १० बजेसे ही अब्बा और सूफ़ी साहब एक कोठरीमें बन्द होकर क्या जाने क्या-क्या मशविरा कर रहे हैं। खानेको नहीं निकले, पाखानेको भी नहीं निकले। कभी-कभी अब्बा जोशसे चिल्लाकर

बातें कर रहे हैं और कभी-कभी सूफ़ी साहब। मगर, घबरानेकी कोई बात नहीं। आसार अच्छे नज़र आ रहे हैं। मिहरबाँ हो जायँगे, ठहरो, सहर होने तो दो!

अब ख़त लिखते-लिखते नींदसे बेहोश हुई जा रही हूँ। देखो! यह क्या करते हो? आँखोंके आगे आकर मुस्कराने क्यों लगे? उफ़, मेरे 'देवता'! तुम कितने ख़ूबसूरत—कितने भले—कितने अच्छे—!

फूल, गुल, शम्सोक़मर सारे थे,
पर हमें इनमें तुम्हीं भाये बहुत।

३ अप्रैल १९२६
१० बजे दिन।

९ बजे नींद खुली! उस वक्त देखा अब्बा और सूफ़ी साहब दोनों ही मेरे ऊपर बड़े मिहरबान थे। अब्बा तुम्हें देखना चाहते हैं। सुना? समझे? मेरे राजा! आह! मेरे दिलसे खुशीका फ़व्वारा छूटना चाहता है। तुम कहाँ हो?

४ बजे दिन।

न आना! न आना, प्यारे! इस वक्त तो इस मुहल्लेमें आग-सी लगी हुई है। सुना है, शहरमें कहीं दंगा हो गया है। आर्य-समाजियोंके जुलूसपर मुसलमानोंने हमला किया है। यह मुहल्ला मुसलमानोंसे भरा हुआ है। सभी कट्टर, हज़ारों ख़ूँख़्वार और सैकड़ों बदमाश। छुरे, गंडासे, भुजाली और तलवारोंकी

पुकार मची हुई है। मालूम पड़ता है, भारी दंगा होनेवाला है। मैं कहती हूँ न, आग लगी है !

इस तूफ़ानमें तुम इधर न आना, मेरे दिल ! न आना—न आना—न आना—!

तुम्हारी
नर्गिस+मुरारी

P. S. न आना—न आना—न आना !

(पता—)

श्रीमती सुमित्रा देवी,
C/o पण्डित जयकृष्ण शर्मा,
दारागञ्ज, प्रयाग।
Allahabad.

कलकत्ता-कालेज होस्टल,

कलकत्ता।

६ अप्रैल १६२६ ई०

माँ,

चरणोंमें स-श्रद्धा स-भक्ति, सादर प्रणाम !

अभी गत तीसरी अप्रैलको एक पत्र तुम्हारी सेवामें भेजा था। वह तुम्हें मिल भी गया होगा और बहुत सम्भव है, उस पत्रको पातेही पिताजीके साथ अपने एक मात्र पुत्रको 'विधर्मी' होनेसे बचानेके लिये तुम कलकत्ता आती भी हो। तुम्हारे फ़ौरन कलकत्ता चले आनेका एक कारण और भी हो सकता है। याने, यहाँके दंगेका समाचार, मगर, देखो माँ: इस पत्रमें मैं जो कुछ लिख रहा हूं उसके अक्षर-अक्षरपर विश्वास करना। और जब तक मेरा दूसरा पत्र न जाय, तबतक किसी भी हालतमें इस ओर पैर न बढ़ाना! इस समय यह शहर नरक का अखाड़ा बना हुआ है। मालूम पड़ता है, यहाँ पर अंग्रेजी राज्य है ही नहीं। चारोंओर डण्डा-शाही, ईंटा-शाही; छुरा-शाही, तलवार-शाही, गुण्डा-शाही, औरंग-शाही, नादिर-शाहीका बोलबाला

है। धूर्त नौकर-शाही, अपवित्र नौकर-शाही और इन सब खुराफातोंकी जड़ नौकर-शाही इस समय घूंघटमें मुँह छिपाये है। नौकर-शाही शासनकी शक्ति कूट-नीतिके दृढ़ गढ़ों और अड्डों-के भीतर बैठकर हिन्दू-मुसलमानोंके सौभाग्य-गढ़में सुरंगें लगा रही है और अपने भयङ्कर कालेहाथोंको दृढ़ बना रही है। हत्या, षड्यन्त्र और उथल-पुथलका नामतक सुन लेने पर उग्र-रूपसे दमन-ताण्डव करनेवाली नौकरशाही-नीति इस समय कूट-लीलारत है, सड़कोंपर भायँ-भायँ हो रहा है और और गलियोंमें सायँ-सायँ। पूज्य पिताजी यदि इस राज्य-का यह रूप-रंग देख लें तो इसे राम-राज्यके पवित्र नामसे पुकारना तो अवश्य छोड़ दें। चाहे इस समय यहाँ के अंग्रेजी मुहल्लोंमें भलेही शराब-कबाब नाच और संगीत-स्वर पूर्ववत् ही चलते हों, मगर हिन्दुस्तानी मुहल्लोंमें आफ़तका नज़ारा है। पान-बीड़ीसे लेकर हीरा-मोती तक की सभी दुकानें बन्द हैं, बाज़ार बन्द हैं, और कितने 'घरोंमें ताले पड़े हुए हैं।'

यह पत्र बड़ी मुश्किलसे लिख रहा हूं। तुम्हारे हाथों तक यह पहुँचेगा या नहीं इसमें भी सन्देह है। डाकखाने बन्द हैं। न तो 'डिलेवरी' होती है और न 'डिस्पैच'। किस हिन्दू या मुसलमान डाकियेमें इतना साहस है जो डाक पहुँचानेका भार लेकर अपने प्राणों को खतरेमें डाले। गुप्त और सांघातिक आक्रमणोंके मारे

घरके बाहर निकलना मुश्किल हो रहा है। हमारा होस्टल चौथी अप्रैल से ही बन्द है। तीन दिनोंसे मुसलमान गुण्डे लगातार हमारे छात्रावास पर धावा कर रहे हैं। दंगेके पहले होस्टल में रहने वाले विद्यार्थियों और नौकरोंकी सम्मिलित संख्या १३५ थी। सौ हिन्दू तथा पच्चीस मुसलमान विद्यार्थी और दस सब तरहके नौकर; जिनमें, दो मुसलमान भी थे। मुसलमानोंके पहले धावेके वक्त ही मौक़ा पाकर सबके सब मुसलमान विद्यार्थी और एक मुसलमान नौकर, मय अपने सामानके होस्टलके बाहर न जाने कहाँ चले गये। बस एक बुड्ढे और नेक खुदासे डरनेवाले और शरीफ़ मुसलमान ने इस घोर संकटमें भी हमारा साथ नहीं छोड़ा। वही इस होस्टलका पन्द्रह बरसका पुराना मुसलमान बावर्ची है। जब होस्टल छोड़कर जाने वाले मुसलमान लड़कोंने उससे भी चलने को कहा, तो उसने गम्भीर-वदन होकर उत्तर दिया कि—"ना बाबा, यह मुझसे नहीं होनेका। पन्द्रह-बरससे जिनका नमक खा रहा हूँ, उन्हें ऐसी मुसीबतमें छोड़कर मैं यहाँसे बहिश्तमें भी नहीं जाऊँगा। यह तो बेवक़ूफ़ोंकी लड़ाई है। ये आज नहीं, तो कल सही, झखमारकर आपसमें मिलने की कोशिश करेंगे। झखमारकर भैया, मेरी बातें याद रखना कि कोई बेवक़ूफ़ कभी कुछ कह रहा था। फिर ऐसे लोगोंका साथ देकर मैं अपने दिल और खुदाको क्यों नाराज करूँ ?" जाने वालोंने कहा—"मुसलमानोंने इस होस्टलमें आग लगाने और

इसमें रहने वालोंको क़त्ल करनेका फैसला किया है। मुमकिन है यहाँ रुकनेमें तुम्हें अपनी जान भी खोनी पड़े।" उसने दृढ़तासे मुस्कराकर जवाब दिया—"अरे भैया, जहाँ इतने आदमी हैं वहाँ कोई डर नहीं। इतने लोगोंके साथ मरनेमें भी मज़ा मिलेगा।" माँ, इसी शरीफ़ मुसलमानने मेरे ऊपर कृपा कर यह वादा किया है कि यह चिट्ठी किसी-न-किसी तरह बच-बचाकर हवड़ा स्टेशनके डाकखानेमें छोड़ आवेगा। इसीकी कृपाके बल पर यह पत्र लिख रहा हूं। मेरा 'कमरा' सड़क और होस्टल-गेट के ठीक सामने तिमंजले पर है। मैं खिड़कीके पास एक कुर्सी पर बैठा हूं और सामने एक स्टूल रखकर उसीसे मेजका काम ले रहा हूं। मेरे चारों ओर ईंटें, पत्थर के टुकड़े, लकड़ियाँ और छोटे-बड़े कई लोहेके टुकड़े रखे हुए हैं। यह इसलिये कि अगर एकाएक मुसलमानोंका दल चढ़ आये तो उसका इन्हींसे स्वागत किया जाय। होस्टल भण्डारकी भोजन-सामग्री तीसरी अप्रैलकी शामसे ही समाप्त हो चुकी है। मैंने पहले पत्रमें तुम्हें लिखा है कि, इधर २०-२५ दिनों तक मैं बुरी तरह बीमार था। अब इसी कमजोरीकी हालतमें तीन दिनोंसे उपवास भी कर रहा हूं। हम लोगोंके पास लकड़ी, ईंट, मेज, कुर्सी, बर्तन, कपड़े, कागज और किताबोंको छोड़ ऐसी कोई भी चीज नहीं जिसे हम खा सकें। हमारी तीनओर मुसलमानोंकी बस्ती है और एक ओर हिन्दुओंकी। हमने टेलीफोनसे पुलिस और हिन्दुओंसे सहायता

भी माँगी है। दोनों ही ओर से सहायता देनेकी आवाज़ें भी आयी हैं। मगर, फिर भी, हम तीन दिनोंसे उपवास कर रहे हैं। हिन्दू तो इधर, मेरा ख़याल है, आही नहीं सकते, क्योंकि इस ओर मुसलमान उनसे कहीं जबरदस्त हैं। रही पुलिस। उसने आज सुबह एक बार, होस्टल-गेट पर खड़े होकर हुरदंग मचाने, ईंटें फेंकने, गाली बकने और "बाहर निकलो साले तो देखूँ !" की आवाजें लगानेवालों को एक ओर खदेड़ा भी था; मगर व्यर्थ। पुलिस के हटते ही दूसरी ओरसे अल्लाह के अन्धे-बन्दों की दूसरी टोली हमारे सिर पर सवार हो गयी।

हम, याने हम हिन्दू लोग, बड़े विचित्र हैं माँ। दूनकी लेना और चौगानकी हाँकना बहुत जानते हैं। मगर, जब असली वक्त सामने आता है, तब अगल-बगल झाँकने, सर खुजलाने और खाँसने-खूँसने लगते हैं। हमारी जगह पर अगर सौ मुसलमान, अँग्रेज या सिख होते तो कभी भी ऐसी ज़िल्लतमें रहना मंजूर न करते। फिर चाहे उनमेंसे दस-बीस या पचीस समाप्त ही क्यों न हो जाते। मगर, जो जीते रहते वह शानसे जीते रहते। हम सौ हैं। नौकरोंको मिलाकर हमारी तादाद एक सौ नौ है। हमारे पास सैकड़ों कुर्सियाँ, बीसों छूरे और अनेक डण्डे हैं। अगर हम सब एक बार हिम्मत करके मुसलमानोंका सामना करें, तो एकाएक हमारा हारना और अपमानित होना मुश्किल हो जाय। मगर, वह हिम्मत हममें नहीं। यहाँ तो कोई बीबीका नाम लेकर

कलप रहा है और कोई माँको याद कर औरतोंकी तरह आँसू टपका रहा है। कुत्तोंकी तरह जान देनेको सभी राजी हैं, शेरोंकी तरह मरनेको कोई तैयार नहीं। यह हमारी ही नहीं, वर्तमान हिन्दू-जातिकी भयानक कमजोरी है। और इस कमजोरीका हमारे मुसलमान-दोस्त फायदा उठाते हैं। हम देवता-देवता चिल्लाते हैं; मगर, जब वे लोग हमारे देवता के रथपर धावा करते हैं, तब हमारा देवता-प्रेम काफूर हो जाता है। हम देवताको, अपनी नजरोंमें विजातियों और विधर्मियोंके मुखका थूक पीने, जूते खाने और कुचले जानेके लिये छोड़ अपने अनमोल प्राणोंको लेकर भाग खड़े होते हैं। हम बाजा-बाजा चिल्लाते हैं; मगर, सरकार या मुसलमानोंकी एक चपत सरपर बैठते ही हमारी चिल्लाहट मन्द पड़ जाती है। हम अपनी बात, अपने धर्म, अपने देवताके लिये प्राण दे देना नहीं जानते। बस, सारी खुराफातोंकी जड़ यही है। संसार में कमजोर होना ही पाप है। संसारके सारे पापोंके जिम्मेवार वे नहीं हैं जो अत्याचार या व्यभिचार करते हैं, बल्कि वे हैं जो अत्याचार और व्यभि-चारको सहते हैं। इस समय संसारकी सबसे बड़ी पापिनी जाति —हिन्दू-जाति है। इधर चार-पाँच सदियोंसे उसका पतनपर पतन हो रहा है। वह गिर रही है—गिर रही है—गिर रही है। विदेशी और विजातीय, अपवित्र और नरक के कीड़े, सदियोंसे, हमारी माताओं, बहनों, बेटियों और बहुओंका पग-पगपर अपमान

करते हैं, अपहरण करते हैं, और उनपर पाशविक अत्याचार करते हैं और हम—बड़े-बड़े मायावी नेताओं के शब्दों में—'जिनकी नसोंमें राम और कृष्ण और परशुराम, प्रताप, शिवा और गुरु गोविन्द, इन्द्र और वरुण और कुवेरका रक्त प्रवाहित हो रहा है' इन अत्याचारोंको देखते हैं और देखते हैं। दुर्बलों की तरह देखते हैं, गिरे हुओंकी तरह देखते हैं, नीचोंकी तरह देखते हैं, निर्लज्जोंकी तरह देखते हैं, कायरोंकी तरह देखते हैं, नामर्दोंकी तरह देखते हैं।

ठहरो ! देखो, फिर हल्ला मच रहा है। शायद वे फिर धावा करने आ रहे हैं। आह ! बड़ी कमजोरी मालूम पड़ रही है, अभी बहुत कुछ लिखना और कहना-सुनना है। माँ ! कौन जाने इस हाय-हायमें दूसरा पत्र लिखनेके लिये जीता रहूंगा या नहीं।

. अभी-अभी सब गये हैं। दो-तीन सौसे कम नहीं थे। इसबार एक नयी और मार्केकी बात हुई है। इस दलका नेता वही था, जिसका परिचय मैंने अपने पहले पत्रमें तुम्हें दिया था। उसका नाम याक़ूब है। मैं पहले ही लिख चुका हूं कि वह हमारे कालेज का बी० ए० का विद्यार्थी है। मैंने यह भी लिखा है कि वह भी उस मुसलमान कन्याको पसन्द करता है। दो-एक बार उसने नर्गिससे पत्र-व्यवहार न करनेके लिये इशारे-इशारे मुझे सचेत भी किया था। एक बार तो हँसते-हँसते साफ़ कह बैठा था कि देखिये जनाब, आपकी यह मुहब्बत मजहबी जामा पहन लेनेपर खतर-

नाक भी हो सकती है। उस वक्त मैंने, दिलमें कुछ विचलित होकर भी, उसकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। मगर, आज तो वह बड़ा भयानक रूप धारण कर आया था। हाथमें तलवार लिये, लुंगी लगाये और दो-तीन सौ धर्मान्धों और आवारे-बदमाशों को साथ लिये होस्टलके फाटकपर आकर उसने पहले आवाज दी—

"मुरारी कृष्ण! आजी ए पर्देमें रहनेवाले आशिक़! जरा घूंघटके बाहर भी मुंह निकालो।"

मैंने खिड़कीके शीशेसे बाहर झाँककर उसे देखा। आखिर हमारा साथी था, सहपाठी था, बड़ा साहस हुआ। मैंने पुकारा—

"भाई याकूब, यह सब क्या हो रहा है? वह देखो! उन्हें रोकते क्यों नहीं? इस तरह पत्थर और सोडावाटरके बोतल फेंके जायँगे, तो मैं तुमसे कैसे बातें करूँगा?

उसने कहा—"आज तुझसे नहीं, तेरी जानसे बातें होंगी। तू 'कावर्ड' बिलके बाहर निकलता ही नहीं। तू काफ़िर है, तेरी माँने ऐसा दिलेर-दूध ही नहीं पिलाया होगा, जैसा हम मुसलमानोंकी माएँ पिलाती हैं। सुन! अब मैं जबरदस्ती कल तेरी माशूक़ा नर्गिसको उसके डेरेपरसे उठा ले जाऊँगा। इस वक्त मेरे साथ सैकड़ों क्या हजारों आदमी हैं। किसी मस-जिदमें ले जाकर कल जबरदस्ती उसे अपनी बीबी या बाँदी

बनाऊँगा। चूमूँगा-लिपटाऊँगा.........।"

"ठहर! वह...काफ़िर लोग उस गलीसे आ रहे हैं। मैं इस वक्त उनका सामना नहीं करना चाहता। हट जाता हूं! और, देख—ले! यह ख़त तुझे दे जाता हूं। यह उसी इस-लामको बदनाम करनेवाली बदमाश छोकरीका लिखा हुआ है। उसने इसे तेरे पास भेजा था, मगर, मैंने अपनी जासू-सीसे रास्तेमें ही हथिया लिया। उसका बाप भी इस वक्त पागल होकर अपनी लड़की की 'पट्टी'से पढ़ रहा है। मगर कोई हर्ज नहीं। मैं कल सब ठीक कर दूँगा।

"तुझे आगाह करने आया हूं। बताने आया हूं। मैं कल उसे अपने क़ब्ज़ेमें करूँगा जिसे तू अपनी बीबी समझना चाहता है। हो सके तो सामने आना और उसके होठों को मेरे होठों की रगड़ से, उसके सीने को मेरे सीने के दबाव से बचाना!"

इतना कहकर आपने दलके साथ वह आगे बढ़ गया और एक खुला लिफ़ाफ़ा होस्टलके बन्द फाटक के भीतर फेंकता गया। उसके पीछे ही, हमारे भाग्य से, हिन्दुओं का भारी दल आया है। उसके नेता हमारी हालत सुन और देखकर व्यग्र हो रहे हैं और हमसे कह रहे हैं कि इस मकानको छोड़कर हम उनके साथ सुरक्षित स्थानमें चले चलें। हमारे साथी तैयार हो रहे हैं और मैं तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूँ। माँ! याक़ूबके फेंके हुए लिफ़ाफ़े

को मंगा कर मैंने पढ़ा। वह उन्हींका पत्र है जिनके बारेमें इसके पहले वाले पत्र में मैंने हृदय खोलकर तुम्हें रत्ती-रत्ती बता दिया है। वह मेरी पत्नी हो चुकी हैं, मैं उनका पति हो चुका हूं। इस समय सचमुच याक़ूब उनका अपमान कर सकता है। मुसलमान उत्तेजित होनेपर जो कुछ न कर डाले थोड़ा है।

सामने मुसलमान बावर्ची खड़ा होकर पत्र जल्द ख़त्म करने का आग्रह कर रहा है। आधे से ज्यादा विद्यार्थी अपना बोरा-बिस्तर संभाल कर फाटकपर खड़े हिन्दू-दल में जा मिले। अब मैं भी पत्र समाप्त कर इस मकान के बाहर जाता हूं।

मगर—माँ! कल जकरिया स्ट्रीट जरूर जाऊँगा। उसने तुम्हारे दूध का ताना दिया है; हिन्दूजाति को ललकारा है और एक हिन्दूकी हृदय-प्रतिमा को भ्रष्ट करनेकी धमकी दी है। प्राण देकर भी मैं याक़ूबके सामने डटा रहूंगा। माँ! यह तुम्हारे दूध का सवाल है और धर्मका सवाल है। मेरे मानका सवाल है और मनुष्यता का सवाल है। यहाँ झुकना ठीक न होगा। ऐसी अवस्था में मर जाने पर भी मैं तुम्हारा मुख उज्ज्वल और तुम्हारा हृदय गद्गद कर दूंगा।

रोना मत, घबड़ाना मत, और यहाँ आना भी मत। ऐसा मत समझ बैठना कि मैं मर ही जाऊँगा। मरना खेलवाड़ नहीं। जरा शान्ति होते ही पत्र लिखूंगा—तार दूंगा।

इस समय बस—

तुम्हारा

...छोटे

(पता--)

श्रीमान 'प्रताप'-सम्पादक,

Pratap Press,

Cawnpore City.

बड़ाबाजार

कलकत्ता

८-४-१९२६

सम्पादकजी,

गत कलसे ही कलकत्ता आ गया हूं। मेरे कानपुर छोड़नेके पहले आपने जो आग्रह किया था, वह मुझे भूला नहीं है। आपने कहा था कि—"वहां पहुंचते ही जहाँ तक सम्भव हो जल्द कलकत्ताके दंगेकी विस्तृत और सच-सच खबर भेजना।" उस समय मैंने आपसे निवेदन कर दिया था कि मैं तो अपने एक बड़े सुन्दर और सजीले, मस्त और हठीले मित्रसे कई वर्षों बाद मुलाक़ात करने जा रहा हूं। और जा रहा हूँ 'नाइनटी नाइन पर-सेण्ट' एक अद्वितीय राष्ट्रीय कार्य करने। याने एक हिन्दू युवक और ब्राह्मण, मित्र और बन्धु, प्रियतम और अभिन्नको यह सलाह देने कि यदि आत्मा कहता हो, यदि भीतर की पवित्र ध्वनि स्वीकृति देती हो, तो वह उस 'यवनी' नवनीत कोमलांगी से व्याह करलें जिसकी खूबसूरत तस्वीर उनकी आंखोंमें दिन और रात और रात और दिन टंगी रहती है। आप मेरी बात

सुनकर चश्मा साफ करते-करते बड़े जोरसे हँस पड़े थे—"गोविन्दजी, आप भी बैठे-बैठे एक-न-एक ख्वाब हमेशा ही देखा करते हैं। इस तरह का उथल-पुथल-कारी हिन्दू-मुस्लिम एका! आपके वह मित्र कहांके रहने वाले हैं? उनकी जाति क्या है?" मैंने कहा था—"वह प्रयागके एक प्रसिद्ध ब्राह्मण रईसके पुत्र हैं।" "तब तो हो चुका! तब तो हो चुका!" आपने उत्तर दिया था—"यह आसमां जमींसे मिलाया न जायगा।" मैंने कहा था—"मुझे तो इसमें कोई आपत्ति नहीं मालूम पड़ती। स्त्रियां तो रत्नोंकी तरह सदा पवित्र हैं। किसी भी जातिकी स्त्रीको, किसी जातिके पुरुषको, मन मिलने पर प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण कर लेना चाहिये। यही हम आर्य्यों का सनातन धर्म है। यदि इस विषयपर अधिक बहस कीजियेगा तो मैं प्रमाणमें पुराणोंको पेश करूँगा, जिनमें ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनसे यह साबित होता है कि उस समयके आर्य ऋषि या नरेश, इच्छा होते ही, किसी भी जातिकी स्त्रीको सहर्ष ग्रहण कर लेते थे। महाभारतके धनुर्धर और गदाधरोंने तो नाग और राक्षस कन्याओंको भी नहीं छोड़ा था। उनको भी जाने दीजिये, अभी कलकी बात है, संस्कृत भाषाके प्रचण्ड-विद्वान्, महाकवि, पण्डित-राज जगन्नाथने छाती ठोककर एक मुसलमानिनको अपनी अंकशायिनी बनाया था; उनको भी जाने दीजिये, वर्तमान हिन्दू समाजको ही लीजिये। धर्म-धर्म' आचार-आचार, हिन्दू-हिन्दू

और मुसलमान-मुसलमान कौन चिल्लाता है ? केवल दरिद्र और केवल मूर्ख। जिनके पास पैसे हैं, जिन्होंने भगवती शारदाको अपनी चेरी बना रखा है, जो बली हैं, उनसे कोई कुछ नहीं पूछता। फलाँ जगहके महाराज दिन भर शराब ही पीकर जीते हैं। जल उन्हें पचता ही नहीं, अतः चाँदीकी पवित्र कटोरीमें शुद्ध विलायतकी ह्विस्की ढाला करते हैं। इतना ही नहीं वे पञ्च 'म'—कारी भी हैं। अपनी रियासेती बहू और बेटियोंको आये दिन, एक-न-एक ढोंग और एक-न-एक धर्मकी आड़में छिपाकर नष्ट किया करते हैं। हजारों उनकी उप-पत्नियाँ या रखिडयाँ हैं। कई सौ हिन्दू, सैकड़ों मुसलमान और पचासों गोरी-बीबियाँ। इतना सब होते हुए भी वे हमारे व्यवस्थापकोंकी दृष्टिमें द्विजराज और सनातन धर्मके सिरताज हैं। बड़ी-बड़ी, पुराण-रक्षिणी-सनातन-धर्म सभाओंके सभापति हैं—क्या है—क्या है। वही क्यों, समाजमें जिसके पास पैसा है वही, खुले आम मुसलमान-वेश्याओंको रखता है और फिर भी समाज इसे क्षमा करता है। क्षमा ही नहीं, पैसेवाले दुराचारी वेश्यागामियोंकी ओर आकांक्षा और लालसामयी दृष्टिसे देखता भी है। फिर महाराज ! बताइये, यह आसमाँ जमींसे क्यों न मिलाया जायगा ? यदि मुसलमान वेश्याओंके 'प्रवेश' से सनातन-धर्मका रंग-मञ्च अपवित्र और नष्ट नहीं हो जाता तो, मुसलमान कन्याओंके प्रवेशसे कैसे भ्रष्ट हो जायगा ?" मेरी बातें सुन

आपने कहा था—"अच्छा भाई, अभीसे मुझे इस झगड़ेमें आप क्यों घसीट रहे हैं ? पहले वहाँ जाकर अपने मित्रको और उनकी परिस्थितिको देखिये-समझिये भी। मगर, मेरी बात न भूलियेगा। वहाँके समाचारोंको फौरन लिखियेगा। मुझे कोई विशेष आपत्ति नहीं। आपके मित्र प्रसन्नतापूर्वक उस यवनानीको ग्रहण करें! हमें अपने पाठकोंके मनोरंजनार्थ एक सुन्दर समाचार मिल जायगा—हा हा हा हा!"

सम्पादकजी, आप मनमें ऊबते और खीझते होंगे कि "यह बेवक़ूफ मेरी ही बातोंको हज़ार मील दूरसे मेरे पास लिखकर क्यों भेज रहा है ? मैंने तो इससे वहांके दंगेका समाचार लिखकर भेजनेको कहा था।" सचमुच मैं इस समय किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा हूँ—बेवक़ूफ बना बैठा हूँ। कानपुरकी अपनी और आपकी बातोंको एकबार पुनः लिखनेका अभिप्राय यही है कि आपको एकबार पुनः याद पड़ जाय कि मैं यहाँ किस प्रेम-मय व्यापारके लिये आया था। मगर, अफ़सोस! यहाँ आने पर सारे मंसूबों पर पानी फिर गया। इस समय मुझे चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखायी पड़ता है। अस्तु, यह पत्र लिखकर मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे क्षमा करें! मैं अवकाश और सहूलियत होते हुए भी आपके पत्रके लिये यहाँकी घटनाओं की रिपोर्ट नहीं भेज सकता। मेरा माथा काबूमें नहीं है। मेरे होश ठिकाने नहीं हैं।

इसका कारण बतानेके लिये मुझे आपके सामने अपनी, कलकत्ताकी डेढ़ दिनोंकी दिनचर्य्या रखनी होगी।

७ अप्रैलको ९॥ बजे हृदयमें आनन्द और भय के अनेक भाव लेकर हावड़ा स्टेशन पहुँचा। आनन्द था, कई वर्षों बाद अपने अभिन्न-हृदयके दर्शनोंकी आशामें और भय था कलकत्ताके दंगेकी अफ़वाहोंमें। रेलहीमें यात्रियों को सतर्क पाया। सब फुसफुसा रहे थे कि कलकत्तेके दंगेके कारण हिन्दू-मुसलमानोंके भाव ऐसे भयंकर हो रहे हैं कि कलकत्ता जानेवाली गाड़ियोंमें भी खून और हत्या हो जाती है। मैंने खुद नहीं देखा; मगर, स्टेशनके बाहर आने पर एक गुजराती हिन्दूने मेरे कानके पास आकर कहा—"देखा नहीं, इसी गाड़ीमें भी दो-तीन मुर्दे पाये गये हैं। यह तो कहो ग़नीमत हुई, हम बच गये!" मैंने हँसकर उत्तर दिया—"भाईजी, बच कैसे गये? अभी तो समूचा कलकत्ता सामने रखा है। इनसे बचे, तो समझिये सबसे बचे!" ख़ैर। मैंने पहले ही सोच रखा था कि ठहरूँगा बड़ाबाज़ार नं०....में, अपने मारवाड़ी मित्रके पास, और फिर वहीं से मुरारीसे मिलने के लिये उनके होस्टलमें जाऊँगा। यही किया भी। एक सिक्खकी टैक्सी पर जा बैठा और बोला—

"बड़ाबाजार पहुँचा दोगे?"

"पहुँचा तो दूँगा, पर, आप हैं कौन?"

"हिन्दू, ब्राह्मण, आदमी।"

सिख हँसा—"बिगड़िये नहीं बाबूजी, आजकल यहाँ साले मुसलमानोंने अन्धेर मचा रखा है। वे सभीको धोका देते हैं और सभी हिन्दुओं को तंग करते हैं। इसीसे हम लोग बहुत समझ-बूझकर केवल हिन्दू सवारी बैठाते हैं।"

मैंने पूछा—"रास्तेमें कोई खतरा तो नहीं है?"

उसने कहा—"इधर देखिये, हम दो भाई हैं। दोनों दो तलवारें लेकर आपके साथ मोटर पर चल रहे हैं। अगर रास्तेमें कहीं खतरा है, तो वह पहले हमारे लिये है, फिर आपके लिये! हमारे जीतेजी कोई आपकी ओर कड़ी आँखोंसे ताक तक नहीं सकता, मगर बाबूजी, चलनेके पहले हम आपकी 'चोटियां' और 'जनेऊ' देख लेंगे, तब चलेंगे।"

मुझे कोई भी आपत्ति न हुई। मैंने सहर्ष अपनी लम्बी चोटी और मोटा जनेऊ उनके आगे नजर किया। वे मुझे लेकर पों-पों करते रवाना हुए। हवड़ा-पुल पार हो जानेके बाद मुझे चार-पाँच फर्लांङ्ग और आगे जाना था। कुल चार-पाँच मिनट का रास्ता था। मगर उतनेमें ही मैंने समझ लिया कि दंगेका कलकत्ता कैसा था। सुनसान—चुप—भयानक! सिखोंने दो-चार जगह पटरियों पर रक्त चिन्ह दिखाये—"यहाँ छुरे चले थे बाबू। यहाँ खून हुआ था बाबू।" मारवाड़ी मित्रके यहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि अब शान्ति हो रही है। एक हफ्ते तक भया-नक रक्त-लीला दिखानेके बाद अब मुसलमान-गुण्डे कुछ दम ले

रहे हैं। मुरारी और उनके होस्टलका पता पूछने पर उक्त मारवाड़ी सज्जनने कहा—"उस होस्टलवाले तो बड़ी मुसीबतमें पड़ गये थे। उसपर मुसलमानोंने कई बार धावा किया था। उसमेंके विद्यार्थी तीन-तीन दिनों तक केवल पानी पीकर रह गये। अभी कल हमारे हिन्दू-दल ने उनका वहाँसे उद्धार किया है।"

मैंने उत्सुक होकर पूछा—"वे लोग वहांसे निकलकर कहां गये?"

मित्रने कहा—"कुछ लोग हवड़ा-स्टेशन कुछ लोग अपने-अपने मित्रोंके घर और कुछ लोग जहाँ जी में आया वहाँ।"

मैंने घबराकर पूछा—"और मुरारी? वह कहां गया?"

"कौन मुरारी? आप किसे पूछते हैं?"

वह मारवाड़ी सज्जन मेरे परिचित थे; मुरारीके नहीं। मुझे उनकी बातों से बड़ी निराशा हुई। मैं मन ही मन कुछ घबरा-सा गया? सोचने लगा; अब उसे कहाँ ढूंढूं, इस समय कलकत्तामें किसीको ढूंढ निकालना कोई खेल तो है नहीं। मैंने घड़ी देखी। सवा आठ बज रहे थे।

"आपकी मोटर खाली है?" मैंने मारवाड़ी मित्र से पूछा।

"मोटर खाली है, शोफ़र खाली है और (अपनी ओर इशारा कर) आपका यह नौकर भी बिलकुल खाली है। मगर, पहले आप नहा लें, कुछ खालें।" नहाने-खानेको जी नहीं चाहता था लेकिन,

शिष्टाचार और लोकाचारकी रक्षा करनी ही पड़ी। यह सब करते-करते पूरे बारह बज गये। याने, सात अप्रैलका मध्याह्न हो गया। मैंने सेठजी से कहा—"सेठजी, अब तो मैं अपने भाईकी खोजमें जरूर जाना चाहता हूँ ?" उन्होंने कहा—"खुशी से। यह सेवक भी आपके साथ चलेगा। अरे—ओ ! मोटर तैयार कराओ !" अभी सेठजी कपड़े पहन ही रहे थे कि उनके एक हट्टे-कट्टे और मजबूत सिख जमादारने आकर कहा—"बाबूजी, अभी-अभी एक हिन्दू जवान मारा गया है !"

"कहाँ ? कहाँ ??" हम दोनोंने एक साथही और एक ही स्वरमें समाचार सुनानेवालेसे प्रश्न किया।

उसने गम्भीर होकर उत्तर दिया—

"जकरिया स्ट्रीटमें।"

"जकरिया स्ट्रीटमें ?" सेठने कहा—"वहाँ कोई हिन्दू क्यों गया ? कैसे गया ? वह तो मुसलमानोंका अड्डा है। वह हिन्दू कौन था जी ? कुछ मालूम हुआ ?"

"कौन था, यह तो नहीं कहा जा सकता, हाँ, कहनेवालोंने बताया है कि कोई बड़ा ही सुन्दर जवान था। उफ ! बाबूजी, सुना है उन बदमाशों ने उसकी बोटी-बोटी अलग करदी।"

सम्पादकजी, मुझे नहीं मालूम था कि यह जकरिया स्ट्रीट क्या बला है। इसके पहले मैंने उसका नाम भी नहीं सुना था।

मगर, एक मुसलमानी मुहल्लेमें किसी 'बड़े ही सुन्दर जवान' का खून सुनकर मेरा खून सूख गया ! न जाने क्यों मनमें धक्-धक् होने लगा। आंखोंके सामने धुंधला दिखायी पड़ने लगा। मैंने सेठजीसे कहा—

"जकरिया स्ट्रीट कहां है ?"

"थोड़ी ही दूरपर—क्यों ?"

"एक बार वहां जाना चाहता हूं।"

"जकरिया-स्ट्रीट जाइयेगा ? और ऐसी हालतमें जबकि सुन रहे हैं कि अभी-अभी एक खून हो गया है ?"

"हां..."

"क्यों ?"

"नहीं कह सकता क्यों ? मगर, मुझे अपने भाईको खोजना है। बस चलिये—बस। "घबराइये नहीं। चलकर, पुलिस स्टेशनसे कुछ सिपाहियोंको साथ ले लिया जाय।"

बड़ा बाजार-पुलिस-स्टेशनके इंचार्जको सारी कथा सुनाकर उनसे पांच सिपाहियोंको अपनी सहायताके लिये मैंने माँगा। उन्होंने कहा कि—"थोड़ी देर पहले जकरिया स्ट्रीटमें किसी हिन्दूके मारे जाने की खबर हमें भी मिली है। पुलिसका एक दल उधर भी गया है। फिर भी आप खुशीसे पांच सिपाहियोंको अपनी मोटरमें बैठाकर ले जायँ।" इन्चार्ज महोदयको धन्यवाद देकर और सिपाहियोंको मोटर-

में बैठाकर हम जकरिया स्ट्रीटकी ओर चले।

जकरिया स्ट्रीटमें घुसतेही हमारी नजर उस दलपर पड़ी। हमारी मोटरसे तीन-चार बीघेकी दूरी पर एक मोटर-लारीको घेरे, पन्द्रह-बीस पुलिसवाले, कई सार्जन्ट और अनेक अन्य आदमी आ रहे थे। हमने ड्राइवरसे मोटरकी चाल मन्द करनेको कहा। मेरा कण्ठ सूखने लगा, कलेजा मुहँको आने लगा। उस मोटरमें क्या है? कौन है? क्या उसमें उस 'बड़ेही सुन्दर जवान'का शव लादकर पुलिस ले जा रही है? हां, है तो एम्बुलेन्स-कार ही। अरे! सेठजी, सेठजी! वह देखिये—वह! वह सुन्दरी कौन है? वह देखिये! देखा? अपूर्व-रूप है! अद्वितीय यौवन!

उस स्त्रीको देखकर मेरे मारवाड़ी मित्र भी जरा सकपकाये—

"पण्डितजी क्या उसे आप पहचानते हैं? उसका रूप तो ठीक आपही ऐसा है।"

"मेरे ही ऐसा रूप!! आयं!" मुझे प्रियतम मुरारीके के पत्रके वे शब्द याद आ गये—"तुम्हारी-सी आँखें, तुम्हारा-सा सुन्दर मुख, तुम्हारी-सी मधुर मुस्कराहट, तुम्हारी तरह नाक, तुम्हारे-से ओठ!" आयँ—मेरे ही ऐसा रूप!! तो क्या—तो क्या— ?

मुझे भूल गया कि मैं मोटरपर बैठा था। मुझे भूल गया

कि मैं मृत्युके अखाड़े कलकत्ता और कलकत्ताके नरक जकरिया स्ट्रीटमें था। मुझे भूल गया कि मेरे साथ चार भले आदमी और हैं। बिना दरवाजा खोले ही मैं मोटरके बाहर सड़कपर कूद पड़ा। होश तब हुआ जब घुटने फूट गये। रक्त बहने लगा। पर वह होश भी क्षणिक था। शरीरको चोट लगी थी। उसी चोटका अनुभव ही होशका रूप धर कर आया था और मुझे बता गया था कि तुम्हारे घुटने बुरी तरह फूट गये हैं। मगर, घुटनोंकी ओर कौन देखता? मुझे तो मोटरके भीतरके शवको देखना था। मुझे तो मोटरके बाहरकी सुशीला-सुन्दरीका परिचय प्राप्त करना था। मैं दौड़ा उस सामने आते हुए सरकारी जनाजेकी ओर। और, तब तक दौड़ता ही रहा जब तक कि उस दलके सार्जण्टोंने' बलवाई समझकर' मेरी ओर बन्दूकें सीधी न कर करलीं, और, डाटकर ललकारा नहीं कि—"ठहरो!"

"मुझे रोको मत! मुझे रोको मत!!

दो बन्दूकें मेरी छातीके दाहिने-बाएँ मुँह अड़ा कर अड़ गयीं। एक सार्जण्टने फिर कड़ी आवाजसे मेरा स्वागत किया—

"किढर जाटा हाय?"

"मैं देखूंगा—मैं फ़क़त देखूंगा।"

"क्या डेकेगा?"

"गाड़ीके भीतर वालेको ?"

इसी समय सेठजीकी मोटर भी आ गयी। सेठजीको उस दलके बहुतोंने पहचाना। उन्होंने सार्जेण्टको बतलाया कि मैं कौन हूं और किस उद्देश्यसे यहाँ आया हूं। मगर मुझे ये बातें पीछे मालूम हुईं। उस वक्तका तो यही ख्याल आता है कि मैंने उन सबको धकेल कर एम्बुलेन्स-कार तक अपना रास्ता बनाया। मैं झपट कर 'कार' पर चढ़ गया। वहां पर एक क्षणमें, एक दृष्टिमें देखा, 'उन्हीं' के आकारका एक 'शव' कपड़ेसे ढक कर 'स्ट्रेचर' पर चित्त रखा हुआ। चारों ओर रक्त का पनाला बह रहा था ?

वह मुँह कपड़ेसे ढँका था—मैंने खोल दिया। वह मुँह भयानक शस्त्रोंके क्रूर-आघातोंसे ढँका था। वह मुँह रक्तकी अगणित धाराओंसे ढँका था। निर्जीव होने पर भी, वह मुंह गौरव और वीरता, प्रसन्नता और प्रेमसे आच्छादित था। मैंने उस सुन्दर और प्रिय मुखको, हजार विकृत होने पर भी फ़ौरन पहचान लिया! आह! फ़ौरन!

वह वही मुख था, जिसे जीवनके उषाकालमें अतृप्त-आँखोंसे, आंखें फाड़-फाड़ कर, देखा था—देखा था—देखा था! वह वही मुख था, जिसका सामना होने पर, मेरे हृदयकी सूखीसे सूखी कली हरी हो उठती थी—खिल पड़ती थी। वह वही मुख था, जिसके दर्शन मात्रसे मेरे अन्तस्तलकी स्वर्गीय स्वर-लहरी

लहरें लेने लगती थी। वह वही मुख था, जिसकी छविके आगे मैंने एक दिन तुलसीदासके 'कोटि-मनोज लजावन हारे' की छविको भी नगण्य समझा था। वह वही मुख था, जो मेरा स्वर्ग था, अपवर्ग था, हर्ष था, आदर्श था, कल्याण था, प्राण था। वह वही मुख था—वह वही मुख था!

अपने हृदयके हृदय, प्राणोंके प्राणकी वह गति देखकर मुझे तो काठ मार गया! मेरी सिट्टी गुम हो गयी। अब क्या करना और क्या न करना चाहिये इसका कुछ ज्ञान ही न रहा। हृदयमें एक साथ अनेक भावोंके भयंकर तूफ़ान उठने लगे। कभी क्रोध आता था—प्रियतमके हत्यारोंपर—विक्षुब्ध-समुद्रकी तरह, खौलते हुए बड़वानलकी तरह, आग उगलते हुए ज्वालामुखीकी तरह। कभी करुणा आती थी—प्यारेकी उस अवस्थापर—विधवाके हृदयकी तरह, माँके विलापकी तरह, रामहीन दशरथकी तरह। मैं न जाने कबतक बेहोशसा उसी एम्बुलेन्स-कारमें, प्रियतमके शवके पास घुटने टेके बैठा रहा। न रोता था और न हंसताही था, न काँपता था और न हिलता ही था।

किसीने मेरा हाथ पकड़ा—

"नीचे उतरो, थाने चलना है। हम लोग कब तक यहाँ रुके रहेंगे? देर हो रही है।"

मैं चुपचाप—एक ठण्डी-साँस खींचकर—नीचे उतर आया। उस वक़्त मुझे ज्ञान हुआ कि संसारमें प्रियतम मुरारीके शव,

और मेरे सन्तप्त हृदयके अलावा भी कुछ चीजें हैं। सबसे पहले मेरी दृष्टि शोकवश्राहता नर्गिस पर पड़ी। उसकी आँखें लाल थीं, कपोल गाले और आठ सुफेद। बिखरे बालों और अस्त-व्यस्त वस्त्रोंवाली वह अभागिनी बिलकुल शून्यसी खड़ी थी। मैं चुपचाप उसके सामने चला गया—

"बहन !"

एक बूढ़े मुसलमानने मेरे सामने आकर आंखोंमें आँसू भर-कर मुझसे कहा—

"बेटा, खुदाके लिये इस वक्त माफ करो। मेरी बदक़िस्मत बेटी इस वाक़ये से क्या से क्या हो गयी है। गजब टूट पड़ा है भैया, मेरे कमजोर सरपर गजब टूट पड़ा है !"

"वह कैसे मारे गये ? यही पूछते हो न ?" नर्गिसने मेरी ओर देखकर कहा—"बताती हूं। अब रोते-रोते और सीना पीटते-पीटते थक गयी हूँ। दिलके खजानेमें अब ऐसी कोई भी चीज नहीं बची जिसे वह आंखोंको आंसू बनानेके लिये दे। न पानी और न खून ही। अब बता सकती हूं। सुनो! वह मुर्दों और डरपोकोंकी तरह नहीं, शेरोंकी तरह मारे गये। उनके पास भी छुरा था, उनके हाथमें भी डण्डा था। अगर वह दोज़खी-कुत्ता, वह इसलामके मुंहपरका कालिख, वह याक़ूब—पचासों बदमाशोंके साथ न होता, तो वह जल्द थोड़े ही मारे जाते। वह न जाने कबसे, और न जाने कितनी दूर से, लड़ते और बचते

मेरे दर्वाजे तक आये। ज़ोरसे आवाज़ दी—"नर्गिस, मैं आ गया !" उनकी आवाज़ और हो-हल्ला सुन मैंने कोठेकी खिरकी से झाँक कर देखा। देखा सैकड़ों क़साई एक गायको, सैकड़ों शैतान एक आदमीको, बुरी तरह मार रहे थे। मेरे देखते-देखते उन बदमाशोंने मेरे कलेजेके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ! आह, वह नज़्ज़ारा ! कभी न भूल सकूंगी, कभी न भूलूंगी।"

एकाएक नर्गिसकी त्यौरियाँ चढ़ गयीं। उसने पगलियोंकी तरह तड़प कर कहा—

"तू भी शैतान मालूम पड़ता है। तू भी मुसलमान मालूम पड़ता है। हट जा, हट जा मेरे सामनेसे ! देखता नहीं है, मैं एक हिन्दूकी स्त्री हूँ ? देखता नहीं है, मेरे माथेमें सिन्दूर लगा हुआ है ? रक्तका सिन्दूर ! उनको छातीके खूनका सोहाग !! देखता नहीं है ?"

प्यारे मुरारीके वियोगमें नर्गिसकी हालत देखकर मेरे पत्थरप्राण पिघल पड़े ! अबतक थमा हुआ आंसुओंका स्रोत फूट पड़ा। मैं रोने लगा—

"बहन !"

"अब रो कर क्या होगा ?" नर्गिसने कहा—"अब रो कर क्या होगा ? तुम आदमी हो ? तुम आदमियोंको प्यार करते हो ? तो, रोओ मत। आओ, मेरे पीछे। चलो मेरे साथ। हम उस शैतानी मज़हबके काले धब्बेको ज़मीनके दामनपरसे मिटा दें जो

आदमीका खून पीना, आदमीका क़त्ल करना, सवाब समझता है। ऐसे शैतान और ऐसे नापाक मज़हबके उठ जानेपर खुदा खुश होगा, फरिश्ते नाचेंगे, आसमान फूल-फूल हो उठेगा, बरस पड़ेगा!"

★ ★ ★

सम्पादकजी, अब अधिक लिखा नहीं जाता। शक्ति नहीं, हृदय नहीं। उसी वक़्तसे मेरा परिचय पाकर नर्गिसने मुझे छोड़ा नहीं। वह और उसके बाप दोनोंही मेरे मारवाड़ी-मित्रके पवित्र अतिथि हैं। बाप—खानबहादुर और धनी, बुद्धिमान् और बूढ़ा—हज़ार गिड़गिड़ा रहा है कि बेटी भूल जा और घर चली चल। मगर, बेटी पागल है, बेहोश है। वह तो गुंडे मुसलमानों का नाश करके ही दम लेगी। ग़लत इसलामको मिटाकरही घर लौटेगी। उसने पुलिससे, मैजिस्ट्रेटसे, पुलिस-कमिश्नरसे, सबसे कह दिया है कि—"मैं बालिग़ और पढ़ी-लिखी और समझदार हूँ। मैंने खूब समझकर हिन्दू-धर्म स्वीकार किया है। अब मैं हिन्दू हूं।" वह मेरे साथ कानपुर, प्रयाग, काशी, स्वर्ग, नरक कहीं भी जाने और हिंसक मुसलिम-संस्कृतिके विरुद्ध प्रचार करनेको तैयार है।

मैं भी उसे छोड़ूंगा नहीं। वह मेरी बहन है। मेरे प्राणों-की प्रेयसी है। उफ! सम्पादकजी; आप यहाँ नहीं हैं, नहीं तो देखते अभागिनी नर्गिसके इस निराश सौन्दर्यको। मेरे

चन्द हसीनों के खुतूत

सामने जमीनपर उदास बैठी हुई वह धीरे-धीरे गुनगुना रही है—

न किसीकी आँखोंका नूर हूं
न किसीके दिलका क़रार हूं !
जो किसीके काम न आ सके
मैं व' एक मुश्त गुबार हूँ !
न तो मैं किसीका रकीब हूँ
न तो मैं किसी का हबीब हूँ !
जो बिगड़ गया व' नसीब हूं
जो उजड़ गया व' दयार हूं !
मेरा रूप-रंग बिगड़ गया
मेरा वक्त मुझसे बिछड़ गया !
जो चमन खिज़ाँसे उजड़ गया
मैं उसी की फ़स्ले-बहार हूं !

अब उसने गुनगुनाना बन्द कर दिया और उदास मुखसे मुझसे पूछ रही कि मैं उसे मुरारीकी माँके दर्शन कब कराऊँगा ?

मैं जल्दही यहाँसे प्रयाग चला जाऊँगा और फिर कानपुर आऊँगा।

इस समय—बस।

सर्वस्व-हीन
श्रीगोविन्दहरि शर्मा

बस

हिन्दी कथा-साहित्य से

('प्रसाद' रचित) 'कंकाल' में व्यभिचारियों की कथा है। यही विषय 'उग्र' जी के भी उपन्यासों का है। तारा और यमुना की जो जीवन-गाथा है वही 'दिल्ली का दलाल' की भी कथा है। 'उग्र' जी ने स्पष्ट कहा है कि यदि कोई माई का लाल सत्य के तेज से मस्तक तान, यह कहने का दावा करे कि तुमने जो कुछ लिखा है, समाज में ऐसी घृणित, रोमांचकारिणी, काजलकाली तसवीरें नहीं हैं, तो मैं उसके चरणों के प्रहारों के नीचे हृदय-पाँवड़े डालूँगा। पर उनकी कथाओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि उनके वर्णन की शैली रस-लोलुप-शृंगारिकता से पूर्ण है। उसमें जो कलुषित व्यापार प्रदर्शित हुये हैं वे अनुचित, वासना-पूर्ण तथा उत्तेजक हैं। कंकाल' को भी पढ़कर श्री कालिदास कपूर जी का भी यही विश्वास हो गया था कि अश्लीलता फैलाना 'कंकाल' का उद्देश्य है। किन्तु श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन है कि वे हिन्दी उपन्यासों की छिछली धारा में ही तैरते रहे। देखना यह है कि अश्लीलता स्वयं साध्य बनी हुई है या साधन बनकर किसी अन्य लक्ष्य की ओर हमें ले जाती है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि 'कंकाल' में व्यभिचारों की जो कथा है, वह समाज के अत्याचारों की और पाखडों की कथा है। समाजपीड़ा, दम्भ, दुर्गुणों का भंडाफोड़, नकली और खोखले आदर्शों की निस्सारता, अनर्थकारी बन्धनों की जटिलता के प्रदर्शन पग-पग पर करते हैं। समाज का यह रूप देख कर हम आशंकित और क्षुब्ध होते हैं, पर, अश्लीलता की शिकायत नहीं करते। अश्लीलता की यह व्याख्या विज्ञ-जन ही कर सकते हैं।

हमारे समान साधारण पाठकों के लिये व्यभिचारों की कथा व्यभिचारों की ही कथा रहती है।

उपन्यासों की कथा-वस्तु कैसी भी हो, चाहे वह सदाचार की शिक्षा से पूर्ण हो अथवा दुराचार के वर्णन से युक्त हो, पाठकों के लिये तभी उनके प्रति आकर्षण होता है, जब उनसे उनका मनोरंजन होता है। मनोरंजन में जितनी ही अधिक वे जीवन की यथार्थता पाते हैं, उतना ही अधिक उनके पात्रों की ओर उनका आकर्षण होता है। नीति की शिक्षाओं और समस्याओं की उलझन से उन्हें संतोष नहीं होता। 'उग्र' जी के यथार्थ चित्रण में अश्लीलता की जो चर्चा की जाती है, उसमें भी वह साध्य नहीं, साधन ही है। 'तोता मैना' की कहानियों में व्यभिचार का वर्णन साध्य नहीं, साधन ही है। यह सच है कि सिनेमा के चित्रों की तरह साधारण जन व्यभिचार की कथाओं को पसन्द करते हैं। इस सम्बन्ध में बर्नार्ड शा का एक कथन मुझे याद आया। उनका कथन था कि आप ऐसी किताबों को पढ़िये जिनमें आपकी दुष्प्रवृत्तियाँ खूब उत्तेजित होकर एक कल्पित राज्य में जाकर आपसे आप नष्ट हो जायँ। कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि 'कंकाल' की सभी घटनाओं में वह यथार्थता नहीं है, जो 'उग्र' जी की रचनाओं में है।

मुझे तो 'प्रसाद' जी के दोनों उपन्यास किशोरीलाल गोस्वामी जी के उपन्यास के आधुनिक संस्करण मालूम हुये। उनमें विचित्र घटनाओं का समावेश है। उनमें न 'उग्र' जी की यथार्थता है और न जैनेन्द्र जी की कला-कुशलता है जो रहस्यमय मनोजगत का आभास देती है।

आधुनिक कथा साहित्य में सबसे अधिक विक्षोभ की भावना उत्पन्न की 'उग्र' जी ने।

—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी।